कटघरे

अमृत राय

[कहानी संग्रह]

अमृत राय

हंस प्रकाशन
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण—दिसम्बर १९५६

प्रकाशक :

अमृतराय

हंस प्रकाशन

इलाहाबाद

मुद्रक :

पियरलेस प्रिन्टर्स,

इलाहाबाद

आवरण तथा वर्ण लिपि

कृष्ण चंद्र श्रीवास्तव

मूल्य

दो रुपया

क्रम

कठघरे

कठघरे

तख्ते ताऊस, तख्ते सुलेमान

हमारी तक़दीर की तरह सपाट और हमारी जिन्दगी की तरह खुश्क और घिसे हुए ये लम्बे-लम्बे नजिस तख़्ते....हमारे तख़्ते-सुलेमान, तख़्ते-ताऊस....

तीन सौ बहत्तर बार सुनी हुई किसी लम्बी और बेहद ग़ैर-दिलचस्प कहानी को एक बार और, फिर एक बार और हलक़ के नीचे उतारने की तरह हम सभी वकील और कुछ अगले वक़्तों के मुख़्तार ९-४० से ले कर १०-२० के अन्दर-अन्दर इन तख़्तों पर आकर बैठ जाते हैं। कोई कीटगंज से आता है, कोई मोहतशिमगंज से, कोई नये कटरे से, कोई पुराने कटरे से, कोई चक से, कोई चौक से, कोई ख़ुल्दाबाद से और कोई दरियाबाद से....शहर के हर कोने से इंसाफ़ के मुजाहिद यहाँ आ कर जुटते हैं, काले रंग की घिसी हुई अचकन या कोट पहने हुए, जो कि उनकी वर्दी है।

इन मुजाहिदों में सभी ज़ात, सभी क़ौम, सभी रंग, सभी मज़हब के लोग हैं, मगर सब इंसाफ़ के यकसाँ मुजाहिद हैं, और कोई किसी से घट कर नहीं है, सब में वही जोश-ओ-ख़रोश है....यहाँ तक कि अगर एक मुजाहिद पाँच रुपये की पेशी पर इंसाफ़ के लिए जिहाद

छेड़ने को तैयार है, तो दूसरा सिर्फ़ दो रुपये पर, और तीसरा एक ही रुपये पर, और चौथा, जो सबसे दिलेर है, आठ ही आने पर। सबके सीनों में इंसाफ़ की वह आग धधकती रहती है कि रुपये-पैसे के तमाम ओछे खयालात जल कर खाक हो जाते हैं। जो बेकस है, मज़लूम है, उसकी हिमायत में जान तक क़ुर्बान की जा सकती है, यह नाचीज़ पैसा क्या है!

मगर बेकस वह है, मज़लूम वह है, जिसकी मिसिल हमारे पास है....

बड़ा दानी, बड़ा धर्मात्मा था वह, जिसने हम लोगों के लिए यह धर्मशाला बनवायी। वर्ना आप ही कहिए, दिन के दिन हम कहाँ बैठते। धूप से, पानी से आड़ तो हर जानवर चाहता है।

हम प्रणाम करते हैं उसको, जिसने यह धर्मशाला बनवायी और हमारी खातिर ये तख्ते यहाँ डलवाये। ये तख्ते ताऊस, जिन पर हम तीस बरस, चालीस बरस, यानी कि ता-हयात बैठते हैं, और फिर हमारे बाद हमारे जाँनशीन बैठते हैं, अगर वह लायक़ बाप के लायक़ बेटे निकले। मौत के दिन की तरह सबके तख्ते मुअय्यन हैं। यह नहीं कि कोई किसी के तख्ते पर बैठ जाए। मैं अपने पर बैठूँगा, आप अपने पर। सब ने अपने-अपने नाम की तख्ती टाँग रखी है, ताकि मुवक्किल को धोखा न हो, और सनद रहे, और वक़्त पर काम आए।

कचहरी वह जगह है जहाँ स्वत्वों की लड़ाई लड़ी जाती है। क्या अजब कि यह लड़ाई खुद वकीलों से और उनके तख्ते ताऊस से शुरू होती है।

जो साहब देर से आये, जगह घिरने के बाद आये उनको मजबूरन अपने लिए छप्पर छवाना पड़ा। लिहाज़ा धर्मशाले के सहन में घास-फूस के कई छप्पर लगे हुए हैं। मगर तख़्ता वहाँ भी है।

और हमारी ज़िन्दगी इन्हीं तख़्तों पर गुजरती है। हम वकील हैं। हमसे पचीस मिनट पहले हमारा मुहर्रिर पहुँच जाता है और किसी मैलख़ोरे रंग की, काली या गहरी कत्थई, या हरी, या ऐसे ही किसी रंग की एक निहायत घिसी हुई दरी बिछा देता है, और अपना काले रंग या दूसरे किसी उड़े हुए रंग का टीन या लकड़ी का बक्स रख देता है। और तब तक मैं पहुँच जाता हूँ। दूकान सज गयी। दूकानदार क़ैंची सिगरेट सुलगाकर, पान चबाते हुए आकर गद्दी पर बैठ गया। अब गाहक का इन्तज़ार है। कौड़ी मोल हम अपनी अक्ल बेच रहे हैं, जिसे खरीदना हो, आए। जिसे मुक़दमा जीतना हो, हमारी दूकान पर आए। हमारी दूकान, सबसे पुरानी दूकान, सबसे मोतबर दूकान, सबसे आला दूकान, आइए, आइए, धोखा न खाइए, इधर आइए।

मगर उफ़, लकड़ी के यह मुर्दा, बेहिस पटरे....

दिन यों ही गुजर जाता है। किसी-किसी रोज़ तो सिगरेट तक के पैसे नहीं खड़े होते। दूकानदारी ऐसी ही चीज़ है, कभी हनी-हना कभी मूठी चना, कभी वह भी मना।....हनी-हना? मगर कब? ज़िन्दगी बीत गयी, यहाँ तो अभी चने पर ही बसर है।

वह देखिए, कलक्टरी की इमारत है, न्याय का मन्दिर, जहाँ इंसाफ़ बिकता है, इंसाफ़....बुड्ढी हरजाई....बहुत मँहगी, बहुत सस्ती

....हम तो रोज़ देखते हैं, क़दम-क़दम पर देखते हैं, हर लमहा देखते हैं....

तो ग़रज़ कि यह कलक्टरी की इमारत है, और यह एक तरफ़ ज़रा हट कर इक्कों का स्टैंड है। इन इक्कों पर चढ़ कर मुवक्किलों की बारात आस-पास के मौज़ों से आती है। मुवक्किल हमारे भगवान् हैं। हम उनको पूजते हैं, वैसे ही जैसे गोबर के गणेश को। मगर आज का मुवक्किल भी तो घाघ होता है। वह जल्दी किसी को पुट्ठे पर हाथ थोड़े ही रखने देता है। जी नहीं, वे दिन लद गये जब यार लोग उसे पकड़ कर बकरी की तरह दुह लिया करते थे। अब तो मुवक्किल वकीलों के भी कान काटते हैं। ऐसी उड़नवाइयाँ सुनाते हैं कि अक्ल चकरा जाती है। मगर खैर जैसे भी हैं, वे हमारे हैं, और हम उनके हैं। हमारा उनका जन्म-जन्म का संबंध है। इसीलिए तो....

धूल से सना हुआ इक्का आकर रुका नहीं कि गुमाश्तों की एक फ़ौज उन पर टूट पड़ती है और चिथाई शुरू हो जाती है। जैसे एक छीछड़े पर पचास चीलें, गुड़ की एक भेली पर सौ चींटे। एक आदमी एक हाथ पकड़े है, तो दूसरा आदमी दूसरा और तीसरा मजबूरन कुर्ते का दामन पकड़ कर खींच रहा है, क्योंकि मुवक्किल के भी दो ही हाथ होते हैं, और चौथे ने उसके हाथ के अंगोछे को थाम रखा है....और रस्साकशी हो रही है।

....अरे ओ कन्हई, ई तौ जइसे संगम के पंडा अहिन....

मुवक्किल का सिर चकरा रहा है और उसके कानों में तमाम आवाज़ें गूँज रही हैं। बड़ी मुश्किल से वह चाय पीने का बहाना करके पीछा छुड़ा पाया है, और इस वक्त चाय का कुल्हड़ हाथ में लिये, या

सत्तू घोलते हुए उन शब्दों की जुगाली कर रहा है, जो उस आपा-धापी में उसके कान में डाल दिये गये थे।

....हमारे वकील साहब मिस्टर दयास्वरूप का जवाब दस जिलों में नहीं है। उनकी जिरह से तो दूसरा फ़रीक़ ऐसे काँपता है, जैसे क़साई के छुरे से बकरा। वह जिधर हो जाएँ, उसकी जीत रखी हुई है। ब्रह्मा भी उसे नहीं टाल सकते। अच्छी तरह सोच लो, समझ लो.... ऐसा न हो कि बाद को बस पछताना हाथ लगे। हाँ केस क्या है?....

....हमारे मुख़्तार साहब मुंशी मनबोधनलाल....पुरानी कायस्थ खोपड़ी है....ये कल के लौंडे, नये-नये वकील, क्या खा कर बराबरी करेंगे। हर साल खँचियों निकलते चले आते हैं, मगर पूछिए, क़ानून इनमें से कितनों की समझ में आता है। इलिलबिल की डिग्री लग जाने ही से तो सब कुछ नहीं हो जाता। क़ानून समझना तो गोया लोहा चबाना है। हमारे मुख़्तार साहब मुंशी मनबोधनलाल खानदानी मुख़्तार हैं। सात पीढ़ियाँ हो गयीं। आप खुद सोच सकते हैं। उनके खून में क़ानून घुल गया है।....और, खैर जहाँ तक मसविदों की बात है, सारे हिन्दुस्तान में उनके पाये का आदमी नहीं है। उनके हाथ के मसविदों में सर तेज तक तो क़लम लगा नहीं सकते थे। क्या कहूँ आपसे, बड़ी इज़्ज़त करते थे सर तेज, भगवान् उन्हें शान्ति दे।....किसी क़िस्म का मसविदा बनाना हो, मेरे साथ चलिए, ऐसा मसविदा बनवा दूँ कि तबीयत बाग़-बाग़ हो

ज़ाए....ऊपर से देखने में निहायत मासूम, निहायत भोला, मगर वक्त आने पर उसी में से गिरफ्त के ऐसे ऐसे प्वाइंट निकलें और निकलते चले आएँ कि बस कुछ न पूछिए, देखने वाला अश-अश करे....कि जैसे किसी निहायत प्यारे-प्यारे-से मेमने के नर्म नाज़ुक पैरों में एकाएक ज़हरीले नाख़ून निकल आएँ....यही तो सिफ़त है। कोई सुर्ख़ाब के पर थोड़े ही लगे हैं, जो लोग आठ-आठ सौ मील से उनके पास मसविदे बनवाने आते हैं। मैं ग़लत नहीं कह रहा हूँ, वैसे आप अपने भले बुरे के मालिक हैं। क़ानून की किताबें पढ़ लेना एक बात है, क़ानून समझना दूसरी....

....बहुत ठीक कहा इन्होंने। क़ानून की किताबें घोल कर पी जाने से कोई क़ानूनदाँ नहीं हो जाता, उसके लिए कुछ दैवी प्रतिभा चाहिए, और जहाँ तक दैवी प्रतिभा की बात है, आप कलक्टरी भर में किसी से पूछ देखिए, मैं तो कहता हूँ खुद इन्हीं से पूछिए, है कोई जो हमारे अरविन्द बाबू के सामने खड़ा हो सके?....कौन अरविन्द बाबू?....कमाल हो गया साहब, आप किस दुनिया में रहते हैं! हमारे अरविन्द बाबू से तो तमाम जंट-मजिस्ट्रेट तक खौफ़ खाते हैं जनाब, कोई ऐसे-वैसे आदमी नहीं हैं। जिस वक्त वह बहस के लिए इजलास में उतरते हैं, हर तरफ़ सन्नाटा छा जाता है। बस यही समझिए कि जङ्गल में जो शान शेर की होती है वही यहाँ पर हमारे खन्ना साहब की है—मिस्टर अरविन्द खन्ना, एल० एल० एम०—डिग्री भी सबसे बड़ी और लियाक़त भी सबसे बड़ी। और साहब क्या पर्सनालिटी! जिधर से निकल जाते हैं खन्ना साहब, लोग हक्के-बक्के हो कर मुँह देखने लग जाते हैं, और इजलास पर तो उनका कुछ कहना ही नहीं, यही समझिए कि शेर। जिस वक्त योर ऑनर कह कर दहाड़ना शुरू करते हैं, मुख़ालिफ़ वकील घबरा कर भाग जाता है!

मुवक्किल बैठ कर चाय पीता रहता है, और तमाम आवाजें उसके कानों में पड़ती रहती हैं। मगर वह बहुत चौकन्ना है, किसी के कहने में नहीं आएगा। कचहरी में दलाल बहुत होते हैं, उसे खूब पता है। शुबराती इक्के वाले ने बहुत ठीक कहा था। उसने कहा था कि सब एक-से-एक बढ़ कर ठग होते हैं, भइया। तुम तो किसी की सुनना ही नहीं, बस चुपके से जाकर मुंशी नौबतराय को कर लेना। बहुत तजुर्बेकार आदमी हैं। और बहुत खामोश आदमी हैं। वह कोई दलाल-वलाल भी नहीं रखते। कोई उनका नाम लेता तुम्हारे पास न आएगा, मगर तुम इसकी पर्वाह मत करना। उन्हें जो जानते हैं, जानते हैं। वह मेरा पट्टीदारी का मामला इकरामखाँ से फँसा था न, तुम्हें पता होगा, वह इन्हीं मुंशी नौबतराय ने तो किया था। बहुत ही उम्दा वकील हैं.... और मुवक्किल को लूटते भी नहीं। तुम तो किसी से कुछ न कहना, न सुनना, बस सीधे जाकर मुंशी नौबतराय का पता लगा लेना।

लिहाज़ा यह रामदीन पांडे घर से तय करके चले हैं कि किसी दलाल-फलाल के चक्कर में नहीं पड़ेंगे, और एक वह कोई मुंशी नौबतराय हैं....

या मेरे अल्लाह, ग़रीब को क्या मालूम कि इंसाफ के मुजाहिदों की बाँहें कितनी लम्बी हैं!

ग़रज़ कि इसी सब्र में दिन ढल जाता है, कभी अपने इस तख्ते ताऊस पर, कभी कचहरी के अँधेरे गलियारों में और कभी इजलास

पर (पेशकार और अहलमद से दो-दो कनबतियाँ, धूल-धक्कड़, इक्के वाले, खोमचे वाले, बीड़ी और कैंची सिगरेट का धुआँ, मुवक्किलों से दो-दो, चार-चार आने के लिए झिकझिक, मुहर्रिर का बुखार हम पर, और हमारा बुखार....?)

लानत है ऐसी ज़िन्दगी पर....लाशें नोच कर पेट भरना। चील-कौओं का पेशा। और उसमें भी अब इतना कम्पटीशन कि बाप रे बाप। अब कुछ रस नहीं इस पेशे में, एकदम कुत्ताघसीटी। दीवानी और माल के मुकदमे तो एक सिरे से कम हो गये। अब तो बस, फ़ौजदारी में तर माल है। किसी का झगड़ा हो, किसी का ख़ून हो, किसी की बेटी कोई भगाए, हमें तो बस अपनी जेब गरम करने से मतलब। मगर वाह दोस्त, ख़ूब पेशा है, ख़ूब पेशा है!

उँह, जो है, सब ठीक है। पेट पालना ही बड़ी चीज़ है। सभी यही करते हैं। यह सामने देखो, कितने मोची बैठे जूते गाँठ रहे हैं। उन्हीं के पास वह ज्योतिषियों की बारात बैठी है, रमल निकालनेवाले मियाँ जी, और हस्तसामुद्रिक के पंडित जी, सभी हैं। सब अपना पेट पाल रहे हैं। मैं अकेला थोड़े ही हूँ, सभी तो किसी-न-किसी की जहालत का फ़ायदा उठाते हैं।

मेरा रोटी कचहरी से चलती है। मगर दम घुटता है। पहले और भी घुटता था। अब उतना नहीं घुटता, पर तो भी थक तो जाता हूँ....बस दिल यही चाहता है, किसी तरह छुटकारा मिले। मगर कहाँ मिलता है छुटकारा। कहीं छुटकारा नहीं है। शाम को जब मैं कचहरी से उठ कर घर आता हूँ, तो कचहरी भी उठ कर मेरे साथ घर आ जाती है।

आयोडेक्स गठिये का मरहम है !

थका-माँदा मैं घर पहुँचता हूँ, अपने कमरे में जाकर सबसे पहले अपना काला कोट उतारता हूँ, और फिर दस मिनट तक एक बहुत पुरानी आरामकुर्सी पर, जो मुझको मेरे बाप से और उनको उनके बाप से मिली थी, आँख मूँद कर लेटा रहता हूँ। दिमाग़ दिन भर के शोर से झनझनाता रहता है। चाहता हूँ कि कोई मेरे पास न आए, कोई भी नहीं, सुशीला भी नहीं, और मैं कुछ देर खामोश पड़ा रहूँ, मुर्दे की तरह।

मगर वह भी कहाँ हो पाता है। घर की कचहरी अपनी साढ़े ग्यारह टाँगों से मेरे पास पहुँच जाती है—कृष्णा, कमला, विमल, केसरी, सन्तू और गठिये से मजबूर डेढ़ टाँग की सुशीला, मेरी पत्नी, इन बच्चों की माँ।

कृष्णा की धोती में हल्दी के दाग़ रहते हैं। सुशीला आयोडेक्स की बदबू में लिपटी रहती है।

यही मेरा घर है। दीवानखाने में एक बेंच और एक जहाज की तरह भारी तख्त, और एक बाबा आदम के वक्त की कुर्सी। बेंच पर मुवक्किल बैठते हैं और मुक़दमे की कहानी कहते हैं। तख़्त पर मैं बैठता हूँ और मुक़दमे की कहानी सुनता हूँ। आरामकुर्सी आराम करने के लिए है। इसी कुर्सी पर लेट कर पिता जी हुक़्क़ा गुड़गुड़ाते थे, और

मैं अब 'कैंची' पीता हूँ। आराम उनको भी नहीं मिलता था, मुझको भी नहीं मिलता। मगर वह और बात है। आराम किसे मिलता है। 'आराम हराम है'—हमारे प्रधान मंत्री ने कहा है।

तो भी यह मेरा घर है। कमरे में दाखिल होते ही, सामने की दीवार पर लाल कपड़े की ज़मीन पर रुई का एक बड़ा-सा तोता बना है, और उसके नीचे रुई के ही अक्षरों में 'स्वागतम्' लिखा हुआ है, जिसे मैंने एहतियात से फ्रेम कराके टाँग रखा है। यह जवान सुशीला के हाथ की कारीगरी है, और इक्कीस बरस पहले जब मैंने वकालत शुरू की थी, तभी से यह तोता इसी तरह टँगा हुआ है। तोता अब बुड्ढा हो गया है और उसकी गर्दन लटक गयी है, मगर अब किसी को उसकी सुध नहीं है, और वह किसी तरह अपनी ज़िन्दगी के दिन पूरे कर रहा है। फ्रेम को अलग करके उसकी गर्दन को फिर से चिपका देना कोई छोटा काम नहीं है, और फिर सुशीला भी अब जवान नहीं है, और मैं भी जवान नहीं हूँ, इसीलिए जो है सो है। मेरे दीवानखाने का बस इतना ही सिंगार है, और हाँ, बायीं दीवार पर डाबर का एक कैलेंडर, और उसके सामने दायीं दीवार पर महात्मा गाँधी की तसवीर, मय अपनी बकरी के। मुझे कमरे में यह भी, वह भी पाँच सौ चीज़ें गाँज देना बहुत ख़राब लगता है। यह सादगी बहुत अच्छी। इसीलिए मैं तो मेज़पोश तक नहीं रखता। पहले रखता था, जिनमें से एक पर कृष्णा ने लाल-हरे-नीले धागे से अंग्रेज़ी में वेलकम (Welcome) टाँक दिया था, और दूसरे पर कमला ने न जाने क्या सोच कर बड़े प्यार से स्वीट ड्रीम्स (Sweet Dreams) लिख दिया था। मेज़पोश दोनों बहुत अच्छे थे, मगर तजुर्बे से मैंने देखा कि मेज़पोश लगाने से मेज भले न गन्दी होती हो, मेजपोश जरूर गंदा हो जाता है, और यह रोज़ का दर्दसर है।

तो जनाबमन्, यही मेरा घर है, और मैं बहुत खुश हूँ, मुझे कोई शिकायत नहीं है। हाँ, यह ज़रूर है कि घर में अगर ज़रा और सफ़ाई रहे, चीज़ें इस तरह तितर-बितर न पड़ी रहा करें, तो ज़्यादा अच्छा मालूम हो। मगर शायद उसका अब कोई उपाय नहीं है। सुशीला से तो अब उतना हो नहीं सकता, उम्र तो कुछ वैसी नहीं हुई, यही सैंतीस-अड़तीस, लेकिन सेहत ठीक नहीं रहती, ज़्यादातर बीमार रहती है। हाँ, कृष्णा-कमला चाहें तो ज़रूर कर सकती हैं, मगर देखता हूँ कि उनका दीदा इस काम में नहीं लगता। और मैं उनसे क्या कहूँ, और किस मुँह से कहूँ। जवान-जवान लड़कियाँ हुईं, मेरे हाथ में पैसे होते, तो अब तक कभी ब्याहकर अपने-अपने घर गयी होतीं। उनसे क्या कहूँ मैं? और सो भी आजकल की लड़कियाँ, सनीमा-बाइसकोप देखने वाली, कहानी-उपन्यास पढ़ने वाली, कहीं मुँह खोल कर कुछ कह ही दें तो। इसलिए मेरी हिम्मत नहीं पड़ती। देखता हूँ, चुप हो रहता हूँ। क्या किया जाए। और घर की हालत यह है कि किसी चीज का कुछ ठिकाना नहीं। सुई की जरूरत पड़ जाए, तो सारा घर खोद कर फेंक दो, तभी वह बदज़ात सुई मिलेगी।....हम ग़रीब लोग हैं। किसी के पास ज़रूरत से ज़्यादा कपड़े नहीं हैं; मगर जिस तरह घर-भर में कपड़े फैले रहते हैं, उससे तो यही लगता है कि सारा बजाजा उठ कर हमारे घर आ गया है। कृष्णा का पेटीकोट बैठक में, मेरी कुर्सी के हत्थे पर। बताइए उसके लिए क्या वही माक़ूल जगह थी? बैठक में मुवक्किलों के अलावा भी चार भले आदमी मुझसे मिलने आते हैं, और वहीं कृष्णा का पेटीकोट पड़ा है, क्या खूब! सन्तू का एक मोजा बरामदे के एक कोने में और दूसरा दूसरे कोने में, नहीं तो चूहे के बिल में। जूतों-चप्पलों का तो कुछ कहना ही नहीं। सब एक दूसरे से मुँह फुलाये बैठे हैं। आप हमसे टेढ़े मुँह बात करते हैं, तो हम आपसे। एक साहब चारपाई पर बैठे हैं, तो दूसरे साहब पानी की घिनौंची पर बिराज रहे

हैं। पाजामे खाट पर टाँग फैलाये लेटे हैं। जूते जमीन पर मुँह बाये पड़े हैं। अलगनी साफ़ और मैले कपड़ों के बोझ से टूटी पड़ रही है।.... आप यह समझिए कि मेरे पास बस दो पुश्तैनी चीज़ें हैं, जो मुझे अपने बाप-दादों से मिली हैं, एक तो मैं खुद और एक यह घर। और जैसा पुश्तैनी यह घर है, वैसे ही पुश्तहापुश्त चित्रकारों की अनेक पीढ़ियों ने सधे हुए हाथों से इसकी दीवारों को सजाया है, यहाँ तक कि मेरे बच्चों तक पहुँचते-पहुँचते मेरा यह ग़रीब घर, जिसकी छत बैठी जा रही है, अपने इन अनोखे भित्ति-चित्रों के कारण अजन्ता और बाघ की गुफ़ाओं की तरह कला का एक अमिट स्मारक बन गया है। इसमें सबसे बड़ा हाथ मेरे बच्चों—कृष्णा, कमला, विमल, केसरी, सन्तू—का है, जिन्होंने आधुनिकतम यूरोपीय चित्रकला के नमूनों से दीवार को सजाया है। इनमें पेंसिल स्केच हैं, कोयले से खींचे गये रेखाचित्र हैं, पेस्टल ड्राइंग हैं, वाटर कलर की चीजें हैं, तैलचित्र हैं, सभी कुछ है, यहाँ तक कि कुछ चित्र गीले कत्थे द्वारा भी अंकित हैं, जो दुनिया में और कहीं नहीं मिलते। यह अंतिम मेरी पत्नी सुशीला की अत्यंत सहज, अत्यंत अनायास, स्वतः स्फूर्त कला है, जो आते-जाते उंगलियों के एक हल्के स्ट्रोक से दीवार पर उतर आयी है। इन चित्रों में राजा रामचन्द्र हैं, कन्हैया जी हैं, भक्तशिरोमणि हनुमान हैं, हाथी हैं, घोड़े हैं, और कुछ चित्र मात्र उलझी हुई रेखाओं के जाल हैं, जिनका अर्थ केवल भगवान् खोल सकते हैं। जिनके नाम की महिमा धरती को कागद और समुन्दर को दावात बना कर घर-भर में, हर कमरे के फ़र्श पर लिखी हुई है। पढ़े-लिखे लोगों का घर है, जिसमें पिछली न जाने कितनी पीढ़ियों से, बराबर डाक के मुंशी, तारबाबू, ानूनगो, मुख्तार, वकील होते आ रहे हैं। ऐसे घर में अगर सब तरफ़ फ़र्श पर रोशनाई न लुढ़की, तो फिर बात क्या बनी।

यही मेरा घर है, मुंशी नौबतराय का घर, और मैं दिन-भर का थका-माँदा (रिक्शे वाले से झाँ-झाँ, मुवक्किल से झिक-झिक, पेशकार की ठकुरसोहाती, मजिस्ट्रेट की घुड़की) आ कर अपनी उस आराम-कुर्सी पर आँख मूँद कर लेट जाता हूँ, ताकि कुछ सुस्ताकर, कुछ तरोताज़ा होकर गृहस्थी के देवमंदिर में प्रवेश करूँ। सुशीला पाँच ही बच्चों में टूट गयी है। हरदम बीमार रहती है। कभी कमर में दर्द है, तो कभी सिर में, तो कभी छाती में। और गठिया तो जैसे हमेशा के लिए उसे जकड़ कर बैठ गया है। समझ ही में नहीं आता कि उसे हो क्या गया है। तमाम डाक्टरों और हकीमों, और—अपने बड़े दोस्त हैं, भला-सा नाम है—चन्द्रकिशोर, होम्योपैथी करते हैं, सबको दिखलाकर हार गया, इस सब में दो-ढाई सौ रुपये भी फूँक चुका, मगर कोई फ़ायदा नहीं। बिस्तर पर पड़ी रहती है। घर का काम-काज तो दरकिनार, .खुद उसी की तीमारदारी के लिए एक आदमी चाहिए। मगर कौन बैठे उसके पास ? मुझे काम से .फ़ुरसत नहीं। सन्तू, जो सबसे छोटा है, नौ साल का, उसे अपने गुल्ली-डंडे से .फ़ुरसत नहीं। उससे जो बड़े साहब हैं, केसरी, वह अपने वक्त. के सबसे बड़े खिलाड़ी हैं और मुहल्ले के तमाम आवारा छोकरों के लीडर हैं, और मार-पीट में सबसे आगे। रोज़ ही एक-न-एक जगह से उलाहना आता रहता है, और मैं भी हैरान रहता हूँ कि यह कहाँ का नेपोलियन पैदा हो गया—बाप न मारी मेंढकी बेटा तीरंदाज ! ग़रज़ कि उनसे कुछ कहना ही बेकार है। उनसे बड़े जो विमल साहब हैं, वह निहायत गम्भीर आदमी हैं, और उतने ही घामड़। तोबड़े की तरह मुँह लटकाये रहते हैं, और समझते हैं यही सबसे बड़ी क़ाबलियत है। आप तीन साल इन्टर में .फ़ेल हो चुके हैं, और अभी और तेरह साल फ़ेल होने का इरादा रखते हैं। मेरे बच्चों में कोई ऐसा बग़लोल नहीं है। पता नहीं, क्या पढ़ता है, क्या लिखता है।

मैंने तय कर लिया है कि अगर वह इस बार फिर फ़ेल हुए तो घर से निकाल दूँगा; कहूँगा, जाओ, कमाओ-खाओ, अब तुम बच्चे नहीं रहे। कब तक कोई किसी की परवरिश कर सकता है ? ज़िन्दगी में थोड़ी-बहुत ठोकर खाना अच्छा रहता है। और कुछ नहीं, तो तीस-चालीस पर मुनीमी ही करेगा, वह भी नहीं तो किसी होटल में बैरा बन जाएगा, बोझा ढोएगा, खोमचा लगाएगा, कुछ भी करेगा....रुपये मुश्किल से आते हैं, डाल में नहीं फलते कि हिलाया और बिन लिया। बताइए, हद है, तीन-तीन साल इंटर में फेल हो रहे हैं!

तो जनाब, यह तो हालत है। कौन बैठे गठिये की मारी सुशीला के पास। लड़कियों को बैठना चाहिए, सो कृष्णा का तो बहुत-सा वक्त चूल्हे की नज़र हो जाता है, रही कमला, तो उसे अपनी पंजाबी और सिन्धी सहेलियों से ही फ़ुरसत नहीं है।

मैं आकर अपनी आराम कुर्सी पर लेटता हूँ, और सुशीला भी पाँच मिनट बाद काँखती-कूँखती आकर तख्त पर बैठ जाती है और अपनी सेहत (यानी बीमारी) के बारे में सब से ताज़ा बुलेटिन सुनाने लगती है। गठिये का फ़साद दूसरे घुटने पर भी दिखाई देने लगा है। छाती में आज दिन-भर बहुत दर्द रहा। सेंकने से भी आराम नहीं मिला। आज अगर बाजार की तरफ़ जाना हो तो, इसबगोल की भूसी लाना न भूलिएगा, और हाँ, देखिए, ऐस्प्रो भी लेते आइएगा। चार-छह टिकियाँ घर में पड़ी रहनी चाहिए। जब सर फटने लगता है, या कमर में चिलक उठती है....

यहाँ तक तो सुशीला की बीमारी का बुलेटिन चलता है। इसके बाद घर की कचहरी शुरू होती है। केसरी ने किसी लड़के का सिर फोड़ दिया। उसकी माँ उलाहना लेकर आयी थी।

(वही बिस्सो तो थी। पूरे थान-भर का पट्टा बाँधे थी लड़के के सिर पर। बोली—तीन इंच गहरा घाव है। तसलों ख़ून बहा। बड़ी मुश्किल से बन्द हुआ....बुरा तो मुझे भी लगा, क्यों भला केसरी ने उस बेचारे का सिर फोड़ दिया। मगर उसके सिर का वह पट्टा देख कर मेरी हँसी न रुकी....)

डूबते हुए सूरज की लाली की तरह, उस हँसी की एक फीकी आभा फिर सुशीला के चेहरे पर खेल गयी, जिसको देख कर मेरा उदास मन न जाने क्यों और उदास हो गया।

(मैं बोली—ज़रूर बहुत गहरी चोट लगी होगी, लेकिन तुमने तो बिस्सो, बेचारे के सिर पर पग्गड़ बाँध दिया। बिस्सो चिढ़ गयी, चमक कर बोली—बड़ी हँसी-मसखरी सूझ रही है, बिमल की अम्माँ। दूसरे के लड़के का दरद तुम्हें काहे को होने लगा। जब अपने पेट के जाये को कुछ होगा, तब पूछूँगी। तुम्हारा वह कुलच्छनी केसरिया.... ऐसे ही झनकती-पटकती वह चली गयी। मगर अब तो देखती हूँ यह रोज-रोज की बात हो गयी। आप केसरी को बुला कर समझा दीजिए।)

कचहरी का इजलास अभी चल ही रहा था कि कमला नाश्ता ले कर आ गयी—नमकीन और मीठे खुरमे और दो प्याली चाय।

चाय से सबको बड़ी राहत पहुँची, सुशीला के घुटने और कमर में गरम सेंक लगी, और मेरे झनझनाये हुए दिमाग़ को तरावट पहुँची, और फ़िज़ा में एक जो झल्लाहट थी, वह क़दरे कम हुई। बातचीत कुछ ज्यादा समतल भूमि पर चलने लगी।

तभी कमला ने सर्कस का प्रस्ताव किया। छः हफ़्ते से एक इतना

बड़ा सर्कस शहर में चल रहा है, और हम लोग आज तक नहीं गये! मुहल्ले का बच्चा-बच्चा देख आया पिता जी, बस हमीं रह गये! (कितनी ज़िल्लत की बात है!) सुनते हैं, इस ग्रेट ईस्टर्न सर्कस से बड़ा सर्कस हिन्दोस्तान-भर में नहीं है। न जाने कितने शेर, बबर, हाथी, घोड़े....

प्रस्ताव मंजूर हुआ। सर्कस देखने जाना ही होगा। बहुत अच्छा सर्कस है।हिन्दोस्तान-भर में नहीं है। सब लोग देख आये हैं। हमीं रह गये हैं। तो कल हम लोग भी सर्कस देखने जाएँगे। कृष्णा, कमला दोनों मिल कर पाँच के पहले खाना पका लेंगी। बस पराठा-तरकारी तो करना है। मैं कचहरी से लौटूँगा, फिर सब चलेंगे, सुशीला को छोड़ कर। वह अपने गठिये के संग बिस्तर में आराम करेगी। विमल का भी कुछ ठीक नहीं है। चलना चाहेगा तो चलेगा। मगर शायद ही चले। मेरे साथ कहीं भी जाना उसे अच्छा नहीं लगता। दिखाना यही चाहता है कि बड़ा पढ़ंकू है—और हर साल लुढ़कता है। मैंने तो साफ़ कह दिया है। मगर अभी उस बात का क्या ज़िक्र.... अभी तो, कल हम लोग सर्कस देखने जाएँगे। कृष्णा, कमला, केसरी, सन्तू और मैं।

सर्कस के शेर

हम लोग सर्कस देखने जा रहे हैं। देखो, हम लोग सर्कस देखने जा रहे हैं। सुना तुमने, हम लोग सर्कस देखने जा रहे हैं। इन्नी, मिन्नी, कोशी, मंजू, दुलारी, हम लोग सर्कस देखने जा रहे हैं। बहुत बड़ा सर्कस आया हुआ है। तुमने अब तक न देखा हो, तो अब देख लेना।

कमला और केसरी के उत्साह का ठिकाना नहीं है। बात भी बड़ी है, हम लोग सर्कस देखने जा रहे हैं।

मगर रात में बिस्तर पर पड़ा सोचता रहा कि मेरी ज़िन्दगी खुद किस ग्रेट ईस्टर्न से कम है। सुशीला का गठिया, दो-दो जवान लड़कियाँ घर में, एक लड़का नाकारा, बग़लोल, और दूसरा नेपोलियन, और कचहरी में कुत्ता-घसीटी—यह किस सर्कस से कम है। मगर उससे क्या, अभी तो हम लोग दूसरा सर्कस देखने जा रहे हैं। सब लोग देख आये हैं। हम भी आज देख लेंगे।

घोड़े, हाथी, भालू, शेर, बबर....सब आदमी के इशारे पर नाचते हैं। मार के आगे भूत भागता है। बिजली की करेंट सबका दिमाग़ ठीक कर देती है। जंगल का राजा सर्कस के अखाड़े में आकर गीदड़ हो जाता है। जिस भालू का एक पंजा किसी पहलवान को भी ढेर कर दे, वही भालू अपने उसी पंजे में एक टोपी ले कर मेरे-तेरे पास घूम घूम कर पैसे दो पैसे की भीख माँगता है। वही काले पहाड़ के जैसा हाथी, जिसको जंगल में देखकर शिकारियों को पसीना छूटने लगता है, सर्कस में आकर इस नज़ाकत से अपने जिस्म को तोलकर अपने करतब दिखलाता है कि कोई बाँकी हसीना भी एक बार शरम से पानी-पानी हो जाए। वही घोड़ा, जिसकी एक दुलत्ती शेर का जबड़ा तोड़ दे, इस वक्त हवा में दुलत्तियाँ फटकार रहा है, और हम ताली बजा रहे हैं। घोड़े का नाच हो रहा है। सर्कस बड़े लुत्फ़ की जगह है। यहाँ एक-से-एक बढ़ कर तमाशा देखने को मिलता है।

अच्छा चलो, अब दूसरे तमाशे देखें। जानवरों के खेल देख लिये, अब आदमियों के खेल देखें। आदमी भी एक जानवर है। वह भी

बिजली की करेंट छुलाने से अपने करतब दिखलाता है।

ओफ़्फ़ोह! यह कितनी ऊँची मचान बनायी है, पचास गज़ से क्या कम होगी। आदमी कितना छोटा-सा दिखाई दे रहा है। नीचे यह एक जाल तान रखा है। वाह रे कलेजा इस आदमी का! इतने ऊँचे से कूदेगा! मैं होऊँ तो मेरा तो नीचे झाँक कर ही दम निकल जाए। बाप रे बाप! आदमी मर्द है। डर तो लगता होगा। पता नहीं, लगता है इन लोगों के आगे-पीछे कोई नहीं होता। तो भी क्या हुआ, काम तो हिम्मत का है। हे भगवान्, पहुँच गया वह मचान पर। अब कूदने ही वाला है। इधर पिस्तौल दगी, उधर वह कूदा। नहीं-नहीं, मुझसे तो देखा भी नहीं जाता।

और यह?

मेज़ पर पहिये के जैसी गोल-गोल कोई चीज़ रखी है। गोले में बाहर की तरफ़ आग लगी हुई है और भीतर की तरफ़ आड़ी-तिरछी दर्जनों छुरियाँ लगी हैं। मुश्किल से सर निकलने भर की जगह है। और सर्कस का जवान बदन को साध कर बिल्ली की तरह उसमें से निबुक जाता है। ज़रा-सा भी इधर-उधर हो और छुरियाँ उसे चाक कर दें। इसमें क्या कुछ कम जोखिम है?

यहाँ तो सभी खेल जोखिम के हैं। नीचे ज़मीन पर तमाम दहकते हुए अंगारे बिछे हैं और इधर से उधर तक एक पतली-सी रस्सी तनी हुई है। उस पर एक सूखे हुए, मरख चेहरे की औरत हाथ में छाता लेकर इधर से और एक वैसे ही सूखे हुए मरख चेहरे का आदमी उधर से आ रहा है। ये दोनों प्रेमी-प्रेमिका हैं, और अभिसार के लिए निकले हैं। शरद ऋतु है, निशीथ की बेला है। घनी अँधेरी रात है।

आकाश में मोतियों का थाल लुढ़क गया है। दोनों ने छक-छक कर मदिरा पी है। उनके पैर डगमग हो रहे हैं। हृदय में अनुराग-बाँसुरी बज रही है।

आँखें अँधेरे में रास्ता खोज रही हैं। नायिका तो और भी सम्हाल-सम्हाल कर पैर उठा रही है, कहीं नूपुर न बज उठें।

नीचे दहकते कोयले बिछे हैं, और उनके ऊपर तनी हुई उस पतली रस्सी पर दोनों दो ओर से आते हैं—दो-दो नशों में चूर। कितनी ही बार ऐसा लगता है कि अब गिरी, अब गिरी, अब गिरा, अब गिरा। कुछ देखने वाले तो चीख तक पड़ते हैं, मगर कोई गिरता-विरता नहीं, उनकी मश्क में कहीं चूक नहीं है। यह सब लटके तो आपकी खातिर हैं, ताकि आपको और भी मज़ा आए। आपके मजों के लिए वह आपको और भी तरह-तरह की कलाबाजियाँ दिखलाते हैं, ताकि जैसे भी हो आपकी सोयी हुई नसें जाग उठें। रोज़-रोज़ का वह नाक की सीध में चलना, रोज-रोज की वह नून-तेल-लकड़ी, रोज़-रोज़ की वह यकसाँ, बँधी-बँधायी लीक....नसें सो जाती हैं, और सर्कसवाले इस बात को जानते हैं। उन्हें यह भी पता है कि सोयी नसें झटकों से जगती हैं, और कि हम इन्हीं झटकों की लालच में, इसी थ्रिल की तलाश में सर्कस देखने जाते हैं।

और हम उनके करतब देखते हैं और हैरान रह जाते हैं। क्या कहने हैं साहब! और भाई, सबसे हिम्मत का शेर तो यह मौत के कुएँ-वाला है। देखती हो कमला, देखते हो केसरी? हम मौत के कुएँ की जगत पर खड़े हैं, और नीचे कुएँ के अन्दर एक ४.५ हार्स पावर की मोटर साइकिल धड़धड़ा रही है। बला का शोर हो रहा है। अभी खेल शुरू नहीं हुआ। अभी भीड़ भर रही है। बाहर एक आदमी गला

फाड़-फाड़ कर चिल्ला रहा है....आइए-आइए....वेल ऑफ़ डेथ....मौत का कुआँ....आइए-आइए....खेल शुरू होने जा रहा है।....और लोग आते जा रहे हैं, और मोटर साइकिल का शोर बढ़ता जा रहा है। हवा में उस शोर की गूँज है, और डीज़ेल का धुआँ है। डीज़ेल पेट्रोल से बहुत सस्ता पड़ता है। और आदमी की जान डीज़ेल से भी सस्ती पड़ती है। मगर हमें सस्ते-महँगे से क्या मतलब....कोई बेचे, कोई ख़रीदे, अपने राम तो खेल देखने आये हैं, मौत का कुआँ। और वह लो, मोटर साइकिल चल पड़ी, और देखते-देखते उसने अपनी अस्सी-पचासी मील फ़ी घंटे की चाल पकड़ ली। एक तूफ़ान है, जो गोया बोतल में बन्द है, और चक्कर खा रहा है। कमाल है कि उस आदमी का सिर कैसे नहीं चकराता। मेरा तो सिर धड़ से अलग उड़ता नजर आए। क्या कहें भाई, कुछ कहते नहीं बनता, ग़जब है, ऐसी हिम्मत! *कुछ भी हो जाए, और मौत रखी हुई है। कोई शक नहीं मौत में।* खिलाड़ी का दिल ही दहल जाए, मशीन तो मशीन, कहीं उसी में कोई ऐब पैदा हो जाए——मैं कहता हूँ कुछ भी हो जाए, छोटी-से-छोटी कोई बात हो जाए, और फिर बच नहीं सकता यह आदमी, शर्तिया मर जाएगा। मगर किसी को इसका ग़म नहीं है। मौत का कुआँ अब तो काफ़ी ज़ोर से हिल रहा है। खिलाड़ी चक्कर खाता हुआ कुएँ के ऊपर तक आ जाता है, जहाँ दर्शक खड़े हैं, और कितने ही लोग चीख़ पड़ते हैं। सचमुच कितने जोखिम का काम है। कहाँ सीधी सड़क, कहाँ कुएँ की दीवार और यह तूफ़ानी चाल!

खेल ख़त्म होता है। हम लोग सीढ़ी से नीचे उतरते हैं। उसी वक्त मौत के कुएँ के दरवाज़े से वह मौत का खिलाड़ी बाहर आता दिखाई देता है—मटमैले रंग की बिरजिस और बूट और भड़कीले रंगों के चारख़ाने की हाईनेक और चुस्त आस्तीन की क़मीज़ पहने,

रंग गोरा, कुछ पीलापन लिये हुए, काफ़ी लम्बा, हड्डियाँ चौड़ी, मगर जिस्म छरहरा, लम्बे बाल रूमाल से बँधे हुए। सर का वही रूमाल खोल कर इस वक्त वह अपने माथे का पसीना पोंछ रहा है।

मैं रुक कर उसे देखने लगता हूँ। पता नहीं, क्यों उसे देख कर मेरा मन इस तरह मसोस उठता है।

उसका वह पसीने से नहाया हुआ, तरोताज़ा, मुसकराता हुआ, उदास चेहरा—उसमें जरूर कुछ ऐसी बात थी कि मेरी निगाहें बँध-सी जाती हैं, और मैं थोड़ी दूर पर खड़ा हो कर बड़े ग़ौर से उसे देखता रहता हूँ।

और जितनी ही देर उस शाम मैंने उसे देखा उतना ही ज़्यादा उसके बारे में मेरा कुतूहल बढ़ा, और फिर लगातार कई शाम मैं सर्कस में आया, केवल उस आदमी को देखने, उससे बातचीत करने। बात-चीत का सिलसिला कैसे निकलेगा, और सिलसिला निकल भी आए, तो आखिर बात क्या करूँगा—इसकी तरफ़ मेरा ध्यान नहीं गया। मैं समझता हूँ, मेरे दिमाग़ में जरूर कुछ-न-कुछ पागलपन का अंश है। अगर ऐसी बात न होती, तो उस रोज मैंने बच्चों को सर्कस दिखाने के बाद, सर्कस की एक-एक चीज दिमाग़ से निकाल फेंकी होती—वह हाथी-घोड़े, बन्दर-भालू, लड़की, जोकर, आग में कूदने वाला, मौत के कुएँ में साइकिल चलाने वाला, सभी कुछ। आदमी तमाशा देखता है, और फिर भूल जाता है। उसको पकड़ कर बैठा थोड़े ही रहता है। मगर मेरा कुछ ऐसा ही उल्टा-पुल्टा हिसाब-किताब है। पता नहीं, उसके भीतर ऐसी कौन-सी कशिश थी, जो लगातार कई रोज तक मुझे वहाँ खींच लाती।

दुनिया की इसी धुआँती हुई आग ने आखिर मुझको भी पकाया है, और मैं अब इस बात को जानता हूँ कि दुनिया में एक करोड़ पेशे हैं। कोई किसी पेशे को अपनाता है, कोई किसी पेशे को। वेश्या अपना जिस्म बेचती है, मैं अपनी अक्ल बेचता हूँ, मिस्त्री अपना हुनर बेचता है, यह आदमी अपनी हिम्मत बेचता है। इसमें कुछ नया नहीं है। तो भी था, मैं क्या करता। उसमें कुछ ऐसी बात थी, जो मेरे पास नहीं थी। उस आवारा ज़िन्दगी में ? शायद। शायद यही आवारापन उसका, यह अजीबोग़रीब मस्ती उसकी, जो मस्ती नहीं है, फिर भी जिसमें जुए का अपना मज़ा है; बड़ा बीहड़ जुआ, जो मैं कभी न खेल सकूँगा, जिसमें खिलाड़ी पेट-भर खाने के लिए दिन में पचीस बार अपनी जान दाँव पर लगाता है।

मौत के कुएँ से आवाज आ रही है

....कुछ नहीं मेरे दोस्त, कुछ भी नहीं। इसमें कोई मज़ा नहीं, कोई शान भी नहीं। घटिया ज़िन्दगी, और उतनी ही घटिया मौत। कोई तीन बरस हुए, मैंने अपने एक साथी, हेनरी को मरते देखा था। मगर छोड़ो उसको....यह मौत का कुआँ है और हम इस कुएँ की तलछट—गंदी, सीलन-भरी। मगर, तो भी जो है, बहुत अच्छा है। जीने की हज़ार तदबीरों में से यह भी एक है।....बहुत बार जब आदमी कोई तदबीर नहीं निकाल पाता, तब ज़िन्दगी खुद अपनी परवरिश के लिए एक न एक तदबीर निकाल लेती है।....सुनोगे, मैं कैसे इस मौत के कुएँ में आया ?

मेरा बाप रेलवे में था—फ़ायरमैन।

मेरी माँ मुझे जनम देने में ही मर गयी थी।

मेरे बाप ने साल बीतते न बीतते दूसरी शादी कर ली।

मेरी नयी माँ बहुत बुरी थी।

मैं सड़कों पर पला। मैं चार साल का था, जब मैंने पहला सिगरेट का टुर्रा पिया और तेरह का, जब पहली बार हौली में गया।

बाप को मुझसे मतलब न था, माँ का बस चलता, तो मुझे ज़हर दे देती।

सड़क ही मेरी माँ थी और सड़क ही मेरा बाप, और उसने मुझे बहुत-से हुनर सिखलाये। अच्छे भी और बुरे भी। मगर एक चीज़ उसने बड़े मार्के की सिखलायी—कि ज़िन्दा रहना आसान काम नहीं है, और बहुत बार एक की लाश पर पैर रख कर दूसरा आगे बढ़ता है। इसलिए जब हेनरी मरा, तो मैंने आगे बढ़ कर उसकी जगह ले ली।....और इस मौत के कुएँ में रहने लगा। मगर यह मैं आगे की कहानी कह गया।....पीछे लौटूँ। ज़िन्दगी मेरे लिए अंधी राह थी। और उस पर मैं एक अंधे जानवर की तरह चल रहा था। मैं किसी चोरों डकैतों के गिरोह में कैसे नहीं जा मिला, मैं आज तक समझ नहीं पाया। शायद हार-थक कर उसी रास्ते जाता, मगर तभी बाप के तुफ़ैल में मुझे भी रेलवे में एक छोटा-मोटा काम मिल गया।....मगर नसीब मेरा पीछा कर रहा था। वर्कशाप के एक फ़िटर की बीबी से मेरा प्रेम हो गया। क्यों, कैसे, इसको छोड़िए। मैंने ज़िन्दगी में कभी किसी से प्यार नहीं पाया था। इसीलिए जब कहीं मुझे इसकी झलक मिली तो मैं जनम-जनम के भूखे की तरह उस पर टूट पड़ा। वह लड़की भी मुझसे प्रेम करती थी। कम-से-कम उस वक्त तो मैंने यही समझा था। आखिरकार बात खुली, और चमेली के आदमी से मेरा झगड़ा हुआ। दोनों तरफ़ से छुरे चले, और चमेली का आदमी मारा गया। मुझे दस साल की सज़ा हुई। मैं सज़ा काट कर बाहर आया, तो मुझे मालूम हुआ कि जिस चमेली के पीछे मैंने दस बरस की जेल काटी

वह दस दिन भी मेरे लिए न रुक सकी, और मुहम्मद हुसेन नाम के एक खानसामे के साथ भाग गयी। मैं चमेली को दोष नहीं देता। उसकी बनावट ही शायद ऐसी थी। वह अकेली न रह सकती थी।....

उसके बाद मैं सर्कस में आ गया—इस मौत के कुएँ में, ज़िन्दगी के कुएँ से मौत के कुएँ में।

मेरा ख़ून गरम था। मुझे जैसी तूफ़ानी ज़िन्दगी की तलाश थी, वह मुझे मिल गयी; जिस वहशियाना मुहब्बत की तड़प थी, वह मुझे मिल गयी। एमीलिया के संग....वही लड़की, जिसे आपने रस्सी पर चलते देखा होगा। एमीलिया के संग मेरे ताल्लुक़ात की बात यहाँ बच्चे-बच्चे को मालूम है। किसी क़िस्म का छिपाव नहीं है। खुली बात है। लेकिन अब कुछ मज़ा बाक़ी नहीं है। सब चुक गया है। ज़िन्दगी एक तूफ़ानी चक्कर है, जिसमें एक मोटरसाइकिल हर वक़्त धड़धड़ाती रहती है, और दिमाग़ की नसें सो गयी हैं, और दिल का सोज़ बुझ चुका है, और मुझे मालूम है कि मैं ही एमीलिया का अकेला हमबिस्तर नहीं हूँ, और एमीलिया को भी मालूम है कि वह मेरी अकेली महबूबा नहीं है, मगर किसी को किसी की शिकायत नहीं है और यही हमारी ज़िन्दगी है, ज़लील, भूखी, मौत और नाउम्मीदी के कुएँ की नीली तलछट।....मेरी आख़िरी ख़्वाहिश है कि मैं बिस्तर में एड़ियाँ रगड़ कर नहीं, अपने इसी लोहे के घोड़े पर सवार मरूँ—आनन-फ़ानन काम तमाम, साफ़-सुथरी मौत। भगवान ने चाहा, तो मेरी यह इच्छा भी पूरी हो जाएगी!

अच्छा, अब मुझे छुट्टी दीजिए, काफ़ी तमाशाई इकट्ठा हो गये हैं, भोंपू खेल शुरू होने का एलान कर रहा है....

मेरा दिमाग़ झनझना रहा है, और आँखों के आगे बिजलियाँ टूट रही हैं।

बिजलियाँ ?

खोयी हुई जवान रूहें ?

हवा में सनसनाते हुए अंधे तीर ?

मैं नहीं जानता, मैं कुछ नहीं जानता।

नंगा आदमी नंगा जख्म

गोरे-चिट्टे, मज़बूत काठी, मँझोला क़द, चेहरे पर खुशहाली का नूर, माथे पर केसरिया चंदन का बड़ा-सा गोल टीका, रुपये के बराबर, मुँह में पान रचा हुआ, फूले फूले गुलाबी गाल, निहायत बारीक खादी की धोती और कुर्ता, आँखों पर सुनहरी डण्डी का चश्मा, कलाई पर बेशक़ीमत सुनहरी घड़ी, जेब में पार्कर ५१ का सुनहरा सेट, पैर में सुनहरे काम के चप्पल, दाहिने हाथ की अनामिका में एक बड़ा-सा नीलम, जो उन्हें रास आ गया था—यही पंडित मुकुटमणि त्रिपाठी थे।

पंडित मुकुटमणि त्रिपाठी उन देशसेवियों में नहीं थे जो मोटा खाने और मोटा पहनने को ही सबसे बड़ी देशसेवा समझते हैं। वह अच्छे से अच्छा खाते थे, अच्छे से अच्छा पहनते थे। किसी ने आज तक उनके शरीर पर महीन छोड़ मोटा कपड़ा नहीं देखा। और क्यों पहने कोई! भगवान् ने जिसे समाई दी है वह क्यों न रहे अच्छी तरह। लोग अकसर अपनी विवशता को ही अपने जीवन-सिद्धान्त की शकल दे लेते हैं। पंडित मुकुटमणि त्रिपाठी ने कभी ऐसा नहीं किया क्योंकि एक तो उनके वैसे कोई अटल जीवन-सिद्धान्त नहीं थे और दूसरे आज तक कभी उनके सामने वैसी कोई विवशता नहीं आयी। अपने बाप के इकलौते बेटे थे। घर में सैकड़ों बीघे आराज़ी थी। सूद पर रुपये

चलते थे सो अलग—और इसमें क्या शक कि रुपये का सूद पर चलना ही एक ऐसा चलना है जिससे वह किसी मंज़िल पर पहुँचता है ! कहने की ग़रज़ यह कि उनके पिता पंडित रघुवरचरण ने किसानी और महाजनी दोनों के मेल से अच्छी-ख़ासी जायदाद खड़ी कर ली थी। और मुकुटमणि उनके इकलौते बेटे, राजकुमारों-जैसा जीवन।

और अब तो जैसे वह राजा हैं ही। घर के राजा बाहर के राजा। घर पर स्त्री का सुख, सन्तान का सुख, धन-धान्य का सुख। स्त्री सुन्दरी, उर्वरा। सन्तानें पाँच और सब के सब बेटे, कन्या एक नहीं, जिसके लिए त्रिपाठी जी आजीवन अपनी स्त्री भागीरथी के ऋणी रहे। त्रिपाठी जी अकसर मगन होकर अपनी मित्रमण्डली के बीच कहा करते—पाँचों पुत्र ! यह तो सचमुच कमाल कर दिया बड़के की अम्माँ ने ! पाँच जने और पाँच के पाँचो पुत्र ! जैसे पाँच पाण्डव !....बड़ा अच्छा हुआ। कन्या तो सचमुच जी का जंजाल है। पहले तो ब्याह के लिए ही तीस हजार निकालकर रख दीजिए—जो इतने पर भी वरपक्ष का मुँह सीधा हो ! कन्या तो सरासर मुक़दमे की डिग्री है—जिसके घर आ जाय उसकी कुर्क़ी रखी हुई है !

लेकिन माँ भागीरथी की कुछ ऐसी कृपा हुई कि पंडित मुकुटमणि त्रिपाठी के घर कोई कुर्क़ी-वुर्की नहीं आयी और वह बिलकुल वेदाग़ बच गये। जैसे सब कुछ अदृश्य की किसी महती योजना के अनुरूप हो रहा हो। देखिए न, बात कहाँ से शुरू हुई : मुकुटमणि अपने बाप के इकलौते बेटे हुए। पूछिए, इकलौते क्यों हुए ? क्या उनके दो चार भाई नहीं हो सकते थे ? मगर नहीं हुए। यही तो भाग्य है, अदृश्य की योजना है। यही अदृश्य की योजना इसमें थी कि माँ भागीरथी ने कन्या एक भी नहीं दी और पूरे पाँच बेटे दिये।

उन्हीं में सबसे बड़ा, रामेश्वर, अब घर का काम-काज देखता है और पंडित मुकुटमणि त्रिपाठी निर्द्वंद्व भाव से देशसेवा करते हैं।

उनका जीवन अत्यंत सुव्यवस्थित, सुनियोजित है। अदृश्य की योजना के संग पंडित मुकुटमणि की अपनी योजना कुछ उसी खूबी के साथ मिल गयी है जैसे सोने में सुहागा। उधर सैकड़ों एकड़ के फ़ार्म पर रामेश्वर बाबू की देखरेख में नये तरीक़ों से खेती होती है, बाक़ायदा ट्रैक्टर चलते हैं, और डेयरी है और आम-अमरूद के बाग़ हैं और इधर पण्डित मुकुटमणि अपने विपुल अवकाश और विलक्षण मेधा का सुन्दर उपयोग करके उन्नति की सीढ़ी पर सीढ़ी चढ़ते हुए अपने प्रदेश के योजना-मन्त्री बन गये हैं ताकि प्रादेशिक जीवन में भी वह वैसी ही सुन्दर योजना चालू कर दें जो उनके निजी जीवन में स्पष्ट दिखायी देती है।

माननीय त्रिपाठी जी इसके पहले आहार-मन्त्री थे; लेकिन फिर विद्वज्जनों ने सोचा कि उनकी अनमोल सेवाएँ योजना-विभाग को मिलनी चाहिए क्योंकि योजना आहार से भी ज़्यादा ज़रूरी है। सैकड़ों साल की गुलामी के बाद जागा हुआ राष्ट्र आहार के बिना भले ही जी ले, योजना के बिना नहीं जी सकता। वैज्ञानिक विकास की योजनाएँ, सांस्कृतिक अभ्युत्थान की योजनाएँ; आगामी कल की योजनाएँ, सौ साल बाद की योजनाएँ; इस मर्त्यलोक की योजनाएँ, उस चन्द्रलोक की योजनाएँ, योजनाओं की एक अनन्त शृङ्खला। और ठीक भी है, राष्ट्र को उन्नति करना है तो योजनाओं को होना है। राष्ट्र योजनाओं से चलते हैं। दूसरे शब्दों में, योजनाएँ ही वह इंजन हैं जिनसे राष्ट्र चलते हैं। जिसके पास जितनी ही ज़्यादा योजनाएँ हैं, समझिए कि उतनी ही त्वरित, उतनी ही अविसंवादी उसकी प्रगति है।

ऐसी स्थिति में स्वभावतः वहाँ एक ऐसे आदमी की ज़रूरत थी जिसका बस एक ही काम हो, योजना बनाना, जो और किसी बात की रत्ती भर चिन्ता किये बग़ैर बस बैठा इत्मीनान से योजनाएँ बनाया करे। इसी अनिवार्यता को ध्यान में रखकर योजना-मन्त्री के पद की सृष्टि

की गयी और पंडित मुकुटमणि त्रिपाठी को उस पर नियुक्त किया गया।

इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं है कि त्रिपाठी जी इस पद के लिए विशेष उपयुक्त थे क्योंकि अजस्र अवकाश का उपभोग करते हुए उन्होंने जीवन भर यही तो किया था। कभी कोई योजना बनाते कभी कोई। बड़ा सरस उद्यम था, जैसा कि दूसरा कोई उद्यम नहीं। इसमें जो ब्रह्मानंद था उसके सामने देवताओं का पेय सोमरस भी हेच था। फलतः वह एकाग्रचित्त होकर दिन-रात योजनाएँ बनाया करते, जिनमें परस्पर कोई भी संगति न होती और जो भाँग का गोला चढ़ा लेने पर और भी ऊर्ध्वगामी हो उठतीं और आकाशगंगा में उड्डीयन करने लगतीं। पंडित मुकुटमणि त्रिपाठी के जीवन का यही सबसे बड़ा सुख था, सबसे बड़ा विलास और देश के कर्म-विभोर नेताओं के समीप यही उनकी सबसे बड़ी पात्रता थी। निदान सबने एकमत से त्रिपाठी जी को योजना-मन्त्री बनाया। उनका कार्य था योजनाएँ बनाना और उनके प्रति लोक-मानस में उत्साह का संचार करना। यह बाद वाला कार्य कुछ अधिक कठिन था लेकिन वाग्-विलासी, वागीश्वर पण्डित मुकुट-मणि त्रिपाठी के लिए सब कुछ साध्य था, उनकी जिह्वा पर सरस्वती विराजती थीं। जब त्रिपाठी जी अपनी ललित शब्दावली में आत्मा और परमात्मा, स्वार्थ और परमार्थ, देश और विदेश का घटाटोप बाँधते और भक्तजनों को अपना विराट् रूप दिखलाते तो लोग गद्‌गद् हो जाते और पागलों की तरह तालियाँ बजाने लगते। उनकी ओजः स्फूर्त वाणी में पता नहीं ऐसा कौन-सा जादू था कि बैठे हुए श्रोता मारे अकुलाहट के उठ खड़े होते और जो खड़े होते वह मन्त्र-मुग्ध से चलने लग जाते या नहीं तो अपनी जगह पर खड़े-खड़े रबड़ के बबुओं की तरह उचकने लगते। त्रिपाठी जी की वाणी में कुछ ऐसी ही ऐन्द्रजालिक शक्ति थी।

वही पंडित मुकुटमणि त्रिपाठी आज हमारे नगर में आ रहे हैं। धन्य भाग हमारे! जोर-शोर से हर तरफ़ उनके स्वागत की तैयारियाँ हो रही हैं। वही नगरपालिका जिसके लिए एक छोटा-सा भी काम पहाड़ ढकेलने के बराबर है, कि जैसे उसके अंग-अंग को गठिये ने जकड़ रक्खा हो, उसी नगरपालिका में पिछले हफ़्ते से एकाएक इतनी स्फूर्ति आ गयी है कि देखकर हैरानी होती है। महानों की गंदगी घन्टों में साफ़ हो रही है। सड़क कूटनेवाला इंजन जो यों पता नहीं कहाँ कुम्भकर्ण के समान सोता रहता है वह पिछले छः दिन से काम में इतना तत्पर है कि हाँफ-हाँफकर मरा जा रहा है और उसकी आँखों से गुस्से की चिनगारियाँ निकल रही हैं। इन सड़कों पर पैदल चलते चलते न जाने कितनी बार मेरा पाँव गड्ढे में जा पड़ा है और मोच आ गयी है; लेकिन अब सब कुछ ठीक हो जायेगा, मन्त्री जी की कैडिलक मोटर तक के पाँव में मोच नहीं आने पायेगा।

तीन रोज से कलुआ भंगी मेरे घर नहीं आया है मगर इसमें शक नहीं कि शहर चमचम करने लगा है। शहर के कोनों-अँतरों में अब भी वही गंदगी का अखंड साम्राज्य है मगर राजमार्ग सब धुल-पुँछकर चमाचम चमकने लगे हैं। और यही मुनासिब है, जिधर से राजा की सवारी निकलेगी उधर ही तो सफ़ाई भी होगी।

नगर की शोभा ही आज कुछ और है। जगह-जगह पर फाटक बने हैं, केले के खंभे हैं, अशोक और आम की पत्तियों के तोरण झूल रहे हैं। फाटकों पर कहीं रुई के अक्षरों में और कहीं सुनहरी और रुपहली पन्नी के अक्षरों में 'स्वागतम्' और 'सुस्वागतम्' लिखा हुआ है।

इन सब तैयारियों के साथ साथ नेता के स्वागतार्थ जनता का भी उचित प्रबन्ध किया गया है। स्कूलों के लड़कों, दफ्तरों के बाबू सब को इस शोभायात्रा में लाकर खड़े कर देने की सम्यक् व्यवस्था है।

योजना-मन्त्री के स्वागत की योजना में कहीं कोई त्रुटि नहीं है। यहाँ तक कि कुछ कुलवधुओं को भी इसका संकेत दे दिया गया है कि जब मन्त्री जी का रथ उनके घर के सामने से निकले तब वह अपने यहाँ से उन पर खील बरसायें और घर की नन्हीं-नन्हीं छोकरियाँ अक्षत-कुंकुम से उनका टीका करें और पान का बीड़ा दें। उसी तरह मुहल्ले के चौधरियों का काम है कि उन्हें गेंदे और गुलाब और चाँदनी के फूलों की माला पहनायें।

और इसी प्रकार पूर्व-निर्दिष्ट योजनानुसार मंद-मंद मुस्क्याते हुए पंडित मुकुटमणि त्रिपाठी ने नगर की प्रेम-विह्वल जनता के स्नेहार्घ्य को सिर आँखों चढ़ाया और सभी दर्शकों को अपने शील और सौजन्य से मोहते हुए सभा-स्थल पर पहुँचे।

उनके पहुँचते ही दो सौ छिहत्तर आबाल-वृद्ध नर-नारी की विराट् भीड़ ने गगन-भेदी जय जयकार किया और तदनन्तर मन्त्री जी ने गद्-गद् होकर अपनी नैसर्गिक ओजस्विता के साथ भाषण देना शुरू किया।

उन्होंने सबसे पहले लोगों को बतलाया कि आज उनका हृदय गा रहा है। इसके बाद उन्होंने यह भी बतलाया कि क्यों आज उनका हृदय गा रहा है। उन्होंने बतलाया कि मेरा हृदय इसलिए गा रहा है कि आज इस शोभायात्रा और इस विराट् सभा को देखकर मेरे आनन्द की सीमा नहीं है। इसके बाद उन्होंने साधु आवेश में आकर अपने अँगूठों पर खड़े होते और इस प्रकार अपनी पाँच फुट साढ़े तीन इंच लम्बाई को आकाश से छुलाते हुए पैगम्बरों की तरह, उसी लहजे और उसी आवाज के साथ एलान किया कि उन्हें चारों तरफ़ उत्साह की एक नई लहर दिखलाई दे रही है, कि देश के सोये प्राण जाग रहे हैं, कि यही देश के अभ्युत्थान का प्रमाण है।

पंडित मुकुटमणि त्रिपाठी आत्म-विभोर होकर धारा प्रवाह बोले जा रहे थे। भाँति भाँति की उपमाएँ-उत्प्रेक्षाएँ, सुभाषित, चुटकुले, अँगूठी में नग की तरह जड़े हुए, एक के बाद एक ताबड़तोड़ निकलते चले आ रहे थे। उनका हृदय भरा हुआ था, उनकी वाक्-सरस्वती एक अजस्र निर्झर हो रही थी। अपने जीवन में कभी उन्होंने इतना मार्मिक भाषण नहीं दिया था। ज्वालामुखी के विस्फोट के समान उनके हृदय के भाव उबल उबलकर बाहर निकलते चले आ रहे थे।

लेकिन तो भी पता नहीं क्यों आज वह श्रोताओं को मन्त्र-मुग्ध न कर पा रहे थे। पता नहीं लोगों में कैसी चिमीगोइयाँ चल रही थीं। एक अजीब खुसुर-फुसुर थी जिसका कोई अन्त न था। इस सबसे सभा का रंग बदरंग था। पंडित मुकुटमणि को इन्तहाई हैरानी थी, और हैरानी से भी ज़्यादा ग़ुस्सा। धीरे-धीरे उनके चेहरे की मुस कराहट खिसियाहट में तबदील हो गयी। उनके तरकश के तमाम तीर चुक गये और कोई नतीजा न निकला। वह खुसुर-फुसुर बदस्तूर चलती रही।

आखिरकार त्रिपाठी जी का ध्यान मजबूरन उस चीज की तरफ़ गया जो सबकी निगाहों को अपनी तरफ़ खींच रही थी—

उधर पीछे, दाहिनी तरफ़, कोने में, जहाँ बिजली के दो बहुत तेज क़ुमक़ुमे लगे हुए थे, एक लंबा-सा, साँवला आदमी एक पेड़ का सहारा लिये खड़ा था। सर के और दाढ़ी के बाल जंगल-झाड़ी की तरह उगे हुए, सर से पैर तक नंगा, मादरज़ाद नंगा, एक चिन्दा नहीं जिस्म पर—बजुज़ एक मैली-कुचैली गांधी टोपी के जो उसके सर के लिए बहुत छोटी थी और गौरैया की तरह चुन्दी पर बैठी हुई थी....

वह एक पागल आदमी था और इसी पागलपन की यह भी एक अलामत थी कि जहाँ उसे खुद अपनी लाज ढाँकने की रत्ती भर

परवाह न थी वहाँ उसने अपनी क़ौम की लाज निहायत ख़ूबी के साथ एक गांधी टोपी से ढाँक रक्खी थी....

उसके इर्द-गिर्द एक छोटी-मोटी भीड़ जमा हो गयी थी जो बस उसे देख रही थी और वह बुत की तरह खामोश खड़ा था, एक नंगा आदमी, जैसे कोई भी नंगा आदमी।

माननीय पंडित मुकुटमणि त्रिपाठी धुँआधार वक्तृता दे रहे थे और वह पागल हिन्दुस्तानी खड़ा था, बस खड़ा था, निर्वाक् निस्पन्द।

तमाशबीनों को इसी में बहुत मजा आ रहा था कि उनके पास ही एक पागल और नङ्गा आदमी खड़ा है। देखने वाले बहुत बार घिनाकर मुंह फेर लेते और फिर थोड़ी देर बाद उसी को देखने लगते।

लिहाजा एक तरफ पंडित मुकुटमणि त्रिपाठी अपना अजस्र वाक्-निर्झर बहा रहे थे और दूसरी तरफ़ लोगों की अलग अपनी चिमी-गोइयां चल रही थीं।

यहाँ तक कि अब त्रिपाठी जी का चेहरा तमतमा उठा था और वह रह रहकर मेज़ पर हाथ पटकने लगे थे।

और वह पगला तो बस खड़ा था, मूरत की तरह, खामोश—कि जैसे दीवार पर एक बड़ा-सा पोस्टर चिपका दिया गया हो, कि जैसे वह एक क़दे आदम आईना हो।

उधर पंडित मुकुटमणि त्रिपाठी कभी कविता की शैली में और कभी दर्शन की शैली में और कभी लोकगाथा की शैली में एक से एक ऊँची बातें कह रहे थे और पसीने-पसीने हुए जा रहे थे मगर वाह रे सुननेवालो, तमाशबीनो, अभागो, तुम्हारे सामने चाहे कोई अपना कलेजा भी निकालकर रख दे, तुम्हें तो बस अपने तमाशे से मतलब है! कभी तुमने अपने हीरे की क़द्र नहीं की! इसीलिए तुम्हारी यह हालत है! कहाँ तो आज एक इतनी बड़ी विभूति तुम्हारे बीच आयी है और कहाँ तुम्हें एक घिनौने पगले को लेकर अपनी चिमीगोइयों और अपनी

खिलखिल से ही फ़ुर्सत नहीं है! लानत है तुम पर, हज़ार लानत है!

योजना-मंत्री माननीय पंडित मुकुटमणि त्रिपाठी अब तक प्रथम पंचवर्षीय योजना की सफलताओं का सिंहावलोकन कर चुके थे और अब बतला रहे थे कि कैसे द्वितीय पंचवर्षीय योजना से इसी धरती पर स्वर्ग की सृष्टि होने जा रही है, बस धैर्य रखने की ज़रूरत है....

और वह धैर्य का पुतला, पगला, नङ्गा, लबों को सिये हुए, बिजली की तेज़ रोशनी में एक नङ्गे ज़ख्म की तरह खड़ा रहा, पेड़ के तने से उठँगा हुआ—वैसा ही मादरज़ाद नंगा और वह गाँधी टोपी वैसी ही गौरैया की तरह उसके सर पर बैठी हुई।
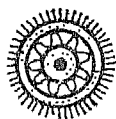
किस्सा अलिफ लैला

बहुत दिनों की बात है, भारतवर्ष के किसी नगर में मुंशी चतुर लाल नाम के एक सज्जन रहा करते थे। मुन्शी चतुर लाल अपने वक्त के खासे अच्छे रईस थे। मगर यह किसी को आज तक नहीं मालूम हो सका कि उनको इतनी दौलत कहाँ से हाथ लग गयी। किसी ने कभी सोचा भी न था कि पटवारीगिरी ऐसी कल्प बेल हो सकती है। सब जानते थे कि मुन्शी जी कपड़े-लत्ते के, खाने-पीने के शौक़ीन हैं। लेकिन वह कोई ऐसी बात नहीं। आदमी अगर पुरुषार्थी हो तो इतने का डौल हो जाता है। मगर एक रोज जब उनके दरवाजे पर मुश्की रंग के सजीले घोड़े वाली शिकरम आकर खड़ी हो गयी और मुन्शी जी आँखों में सुर्मा आँजकर नाखूनी किनारे की धोती और तन्ज़ेब का बारीक चुन्नटदार कुर्ता और सुनहरे काम की नफ़ीस सलीमशाही जूतियाँ पहन कर उसमें बैठे और सोलहो आने रईसाना अन्दाज़ में, तिरछी मुस्कराहट के साथ उन्होंने अपने इलाक़े का मुआयना किया तो देखने वालों के हाथ के तोते उड़ गये। यह कौन-सा क़ारूँ का खज़ाना इसके हाथ लग गया? रातों रात यह कैसी काया-पलट हो गयी? सच कहा है, भगवान् देता है तो छप्पर फाड़ कर देता है। खाने-पीने की बात और है, मगर यह क्या—यह तो मुन्शी जी रातों-रात रईस बन बैठे! ग़ज़ब हो गया, साहब! मगर वाह, बड़ा गहरा पेट है, किसी को कानों-कान खबर न

हुई और शिकरम दरवाज़े पर आकर खड़ी हो गयी ! सुनते हैं पचीसों बीघे ज़मीन भी अपने बेटे के नाम लिखवायी है और नये पुख़्ता मकान की नींव भी जल्दी ही पड़ने वाली है ।

लोगों की हैरानी की इन्तहा न थी और गाँव की क़रीब दो-तिहाई आबादी बेहोश हो गयी और बड़ी-बड़ी मुशकिल से होश में आयी । मुन्शी जी के पट्टीदार मुन्शी सौदागर लाल ने तो मारे जलन के गले में फाँसी ही लगा ली, मगर ख़ैर अभी उनकी उम्र बाक़ी थी और भगवान् को भी यही मन्जूर था कि वह और कुछ रोज मुन्शी चतुर लाल का सितारा चढ़ता देखें, लिहाज़ा वह मरे नहीं और लोगों ने वक्त पर पहुँच कर उनके गले का फन्दा काट दिया । मगर जो सच पूछिए तो उनके गले का फन्दा कटा नहीं और उन्हें ताज़िन्दगी चैन नहीं मिला । चैन मिलता भी कैसे ! बात ही ऐसी थी ।

यह पैसा मुन्शी चतुर लाल को कहाँ से मिला, यह राज़ उनके साथ ही चला गया । मगर पैसा सब उनके साथ नहीं गया और उनके बाल-बच्चों ने अच्छी तरह उसको भोगा ।

मुंशी चतुर लाल के यहाँ कन्हैया का अवतार उस समय हुआ जब उन का सितारा अपनी चोटी पर था । लिहाज़ा कन्हैया ने अपने घर की रईसी ही देखी । बुढ़ापे की औलाद था, बाप ने खुले हाथों उसके हर शौक़ को पूरा किया । मुँह से उसके बात निकलती और फ़रमाइश पूरी होती । दूसरे बच्चों को बल्कि इसका मलाल था कि कन्हैया की बहुत ज़्यादा ले-लपक होती है । मगर उससे क्या होता है, आख़िरी बेटे की शान ही कुछ और होती है और खासकर तब जब वह क़ारूँ का खजाना लेकर जमीन पर उतरा हो । मुन्शी जी उसे अपने साथ बिठाल कर, अपनी थाली में खाना खिलाते और शाम को जब पीने बैठते तब कन्हैया भी उनके साथ बैठता । बात यह थी कि मुन्शी जी अपनी आँखों के सामने उसे हर कला में पारंगत कर जाना चाहते थे ।

शराब की महफ़िल में बैठने के तौर-तरीक़े रईस खान्दान के आदमी को ज़रूर आने चाहिए। और इन चीज़ों की तालीम अगर बाप अपने बेटे को न देगा तो दूसरा कौन देगा! इसी तालीम के ख़याल से चिखनी के लिए ईदू क़स्साब के यहाँ से कबाब लाने का ज़िम्मा भी उन्होंने कन्हैया को सौंप रखा था।

वक्त गुज़रा और वक्त गुज़रने से साथ साथ कन्हैया ने खूब दिल लगाकर यह तालीम हासिल की। पन्द्रह की उम्र तक पहुँचते-पहुँचते वह सभी अदब-क़ायदों का जानकार हो चुका था और हर अच्छी और बुरी शराब का मज़ा उसकी जबान पर चढ़ चुका था। चखना तो बहुत दूर की बात है, महज़ रंग देख कर वह दावे के साथ कह सकता था कि शराब कैसीहै। लोग उसकी इस क़ाबलियत को देखते थे और अश-अश करते थे।

बीज अगर बंजर धरती पर पड़े तो मर जाता है। वही बीज जब अच्छी उपजाऊ धरती पर पड़ता है तो चन्द महीनों में एक लहलहाता हुआ पौदा बन जाता है। सो वही हुआ। कन्हैया की अक्ल बहुत तेज़ थी। अपने बाप की सारी तेज़ी उसके भीतर सिमट आयी थी। और जितनी जाँफ़िशानी से बाप ने ट्रेनिंग दी थी उतनी ही जाँफ़िशानी से बेटे ने उसे क़बूल किया था। मगर ट्रेनिंग जिस चीज की मिलेगी उसी में तो आदमी माहिर होगा। लिहाज़ा इसमें कन्हैया का कोई क़सूर न था अगर वह पढ़ने-लिखने में एकदम गधा था। मुन्शीजी ने कभी उस चीज़ पर ज़ोर ही नहीं दिया। कहते थे, वह तो हर ऐरे-ग़ैरे नत्थू-ख़ैरे को आ जाता है! मेरा बेटा क्लर्क थोड़े ही बनेगा! और अगर सीखना ही होगा तो चुटकी बजाते सीख जायेगा।

लिहाज़ा बेचारा कन्हैया चुटकी ही बजाता रह गया और कहीं बाईस बरस की उम्र में जाकर उसने पाँच कोशिशों के बाद मैट्रिक पास किया। पढ़ने में उसका जी लगता ही न था। दूसरी हज़ार दिल-

चस्पियाँ थीं। शराब की लत बाप ने ही डाल दी थी और दूसरी सहेली लतें जवान बेटे ने वक्त आने पर खुद ही डाल लीं। वह सभी चर्चे, जो उसने बचपन में महफ़िल में बैठ कर सुने थे, जवान हो गये। और फिर शराब ने उनकी जवानी को और जवान किया।

और तभी जब उसने एवरेस्ट की चोटी पर अपनी तीसरी चढ़ाई की थी, बाप का साया सिर से उठ गया। मुन्शी चतुर लाल परलोक सिधार गये। और उनकी आँख बन्द होते ही घर में वो-वो शिगूफ़े खिले कि तौबा! बड़े भाई जो कन्हैया से यों ही नाराज़ थे क्योंकि वह मुन्शी जी का चहेता था, अब उनकी बन आयी। बड़े मज़े किये हैं इस कन्हैया ने, अब हम पूछेंगे!

लिहाज़ा बड़ी छीनाझपटी हुई, बड़ी छीछालेदर हुई। आख़िर को सब एक ही बाप के बेटे थे। यों बहुत कुछ तो मुन्शी जी के सामने ही उड़ चुका था और अब जो कुछ बचा था उसके चार हिस्से हुए। कन्हैया के हाथ आठ हज़ार रुपये लगे। और लियाक़त के नाम पर थे लिख लोढ़ा पढ़ पत्थर। ज़िन्दगी के ऊँट ने यह बड़ी बुरी करवट बदली। कन्हैया ने जब यह आठ हज़ार रुपये देखे और अपनी लियाक़त को देखा और सामने चटियल मैदान की तरह फैली हुई अपनी ज़िन्दगी को देखा तो नशा हिरन हो गया और कुछ करने की फ़िक्र सवार हुई। लिहाजा उसने रो-झींख कर दो बरस में मैट्रिक पास कर लिया और फिर काम की तलाश में निकला। मैट्रिक पास के लिए भला आजकल कहाँ काम रखा है। मगर ख़ैर भगवान की कृपा से उसी शहर में मुन्शी चतुर लाल के एक पुराने दोस्त मिस्टर मुरली मनोहर खन्ना युनाइटेड नेशनल बैंक के एजेन्ट निकल आये। खन्ना साहब ने मुन्शी चतुर लाल के संग बहुत-सी महफ़िलों में शिरकत की थी और अपने दोस्त की याद में उन्होंने कन्हैया को अपने यहाँ लगा लिया।

और कन्हैया यूनाइटेड नेशनल बैंक में काम करने लगा। पीने

की लत ने तो उसका साथ नहीं छोड़ा, मगर यों वह बहुत तनदिही से काम करता था। खन्ना साहब को भी बड़ी खुशी हुई कि उन्होंने ग़लत आदमी को काम पर नहीं लगाया। धीरे-धीरे अक्ल का तेज़ कन्हैया अपने इस नये काम में भी बहुत माहिर हो गया, इतना कि फ़रफ़र फ़र-फ़र हवा की तेज़ी से नोटों की गड्डियाँ गिनने लगा। छोटे-बड़े सब उससे बहुत खुश थे क्योंकि वह सबसे बहुत अच्छी तरह बोलता था और अक्सर अपने साथियों को अपने यहाँ खाने पीने को बुलाता रहता था। उसके पास आठ हज़ार की थैली थी, जो अब तक पाँच हजार रह गयी थी, लेकिन दूसरों के पास वह भी न थी। लिहाजा इस जगह पर आकर वह मीर हो जाता था।

ग़रज़ यह कि कन्हैया अपने काम से खुश था और लोग कन्हैया से खुश थे, यहाँ तक कि खन्ना साहब भी कभी कभी कहा करते—भई, पैसा कम हो या ज्यादा, खान्दान का असर थोड़े ही जाता है। इसके बाप मुन्शी चतुर लाल मेरे बड़े दोस्त थे। वह भी खिलाने-पिलाने के बड़े शौक़ीन थे।

मैनेजर साहब की इस बात से कन्हैया की इज्जत अपने साथियों में और भी बढ़ जाती थी।

दस बरस बीत गये और कन्हैया तरक्क़ी करते करते खज़ांची के पद पर पहुँच गया।

उसको भी दो-तीन बरस बीत गये।

और फिर एक रोज पता चला कि बैंक में एक लाख का ग़बन हो गया। चारों तरफ़ तहलका मच गया। फ़ौरन बैंक के खज़ांची कन्हैया लाल वर्मा को हिरासत में ले लिया गया। किसी को सपने में भी इस

बात का खयाल न हो सकता था, मगर प्रत्यक्ष के लिए प्रमाण कैसा ? ख़ज़ांची को छोड़कर दूसरा हो ही कौन सकता है !

कन्हैया पर मुक़दमा चला। कन्हैया ने कहा : मैं निर्दोष हूँ। बैंक के एजेंट की छान-बीन होनी चाहिए।

कन्हैया के वकील ने कहा : मेरा मुवक्किल निर्दोष है। बैंक के एजेंट की छान-बीन होनी चाहिए।

छान-बीन जो होनी चाहिए थी, हुई और कन्हैया को दोषी पाया गया और बाक़ायदा सात साल की सज़ा हो गयी।

कन्हैया ने सज़ा सुनी। उसके माथे पर शिकन भी नहीं आयी। उसने अपील भी नहीं की। उसने रामायण पढ़ रक्खी थी। उसमें भगवान् रामचन्द्र ने बन जाते समय सीता जी को बोध देते हुए कहा था—दिवस जात नहिं लागहिं बारा।

सात बरस हफ्ते के सात दिन की तरह बीत जायेंगे।

(भाग्य की चंचल देवी सबके जीवन में एक बार इशारे से मुस-कराती है। कोई उसके संकेत को समझ लेता है और कोई नहीं समझ पाता। जो समझ लेता है वही बुद्धिमान कहलाता है। भले-बुरे के चक्कर में कभी अक़लमन्द आदमी को न पड़ना चाहिए। दुनिया के पास न तो नेकी को याद रखने की फ़ुर्सत है न बदी को। कन्हैया के बुद्धिमान पिता मुन्शी चतुर लाल ने यही सीख उसे दी थी और आखिरकार बुड्ढे की सीख काम आयी।)

छूटकर आ गया। उसके दिन मस्ती से कटने लगे। वह हर रोज शाम
सात बरस हफ्ते के सात दिन की तरह बीत गये। कन्हैया जेल से

को अपने सात साल के बेटे नरेश को लेकर बैठ जाता, जो उसी रात पैदा हुआ था जिस दिन कन्हैया जेल गया था, और उसे शराब की और अक्ल-ओ-दानिश की चुस्कियाँ देता।

कन्हैया की जिन्दगी में अब सब तरफ़ बहार थी। सुख-चैन की बरखा हो रही थी। कुछ दिन लोग जरूर उससे थोड़ा कतराये मगर फिर जब पीने-पिलाने का दौर चला तो सब कुछ ठीक हो गया और लोग सिर धुनने लगे कि काश वह भी इसी तरह सात बरस के लिए जेल जा सकते।

जैसे कन्हैया के दिन फिरे वैसे राम करे सबके फिरें।
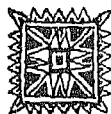
गोबर गनेश

—ये बोट आच्छा बार्गेन हाय सेट, टुम नहीं करेगा टो डुसरा करेगा। प्रिंस टैक्सटाइल्स बोट बड़ा नाम....टीस लाख रुपिया कुछ नहीं....टुम नहीं करेगा टो पछुटायेगा—फर्गुसन साहब ने सेठ रामप्रसाद झुनझुनिया से कहा।

सेठ रामप्रसाद गये तो थे कीमत कम कराने, लेकिन वहाँ फर्गुसन साहब के कमरे की मिर्ज़ापुरी कालीनें, सोफे, तसवीरें, अर्दलियों की फौज, कुत्तों की बारात, फूल, सफाई, यानी एक शब्द में कहें तो साहबियत के दबदबे में ऐसे आये कि उनकी सिट्टी-पिट्टी गुम हो गयी और अपनी बात वह ठीक से जबान पर ला भी नहीं पाये। प्रिंस टैक्स-टाइल मिल बड़ी थी, नाम था, जमा हुआ कारबार था, सब बात थी, मगर तब भी तीस लाख की थैली जरा भारी बैठती थी।

यों सेठ जी के लिए तीस लाख और पचीस लाख बहुत कुछ एक-सी ही बात थी। उनकी सारी कमाई सट्टे की थी और सट्टे के बाजार में दस-पाँच लाख इधर या उधर हो जाना दस-पाँच मिनट का खेल होता है। लेकिन तो भी शुरू शुरू के दिनों में निर्मम वणिक् बुद्धि से उन्होंने कौड़ी कौड़ी करके जो माया जोड़ी थी, उसके कारण उनका मन उस सौदे को निर्द्वन्द्व होकर स्वीकार न कर पाता था और उस वक्त सेठ जी की हालत उस लड़के जैसी थी जो मिठाई की किसी

ऊँची दूकान के सामने खड़ा एक मिठाई को आतुर नेत्रों से देख रहा हो मगर उसके दाम सुनकर बड़ी विडम्बना में पड़ गया हो।

सेठ जी ने बहुत झिझकते हुए बात शुरू की—तीस लाख तो जरा ज्यादा मालूम होता है, फर्गुसन साहब।

फर्गुसन साहब ने ऐसा नाटक किया कि जैसे आसमान से गिर पड़े। बोले—टुम टीस लाख को जाडा बोलटा। टुम कैसा बाट करटा। हम टुमको बोलटा टुम पछटायेगा। सेठ हम ठीक बाट बोलटा, टुम्हारा फायदा का बात बोलटा....

सेठ रामप्रसाद झुनझुनिया के चेहरे का भाव और भी कातर हो आया—कुछ ऐसा कि जैसे वह मुबलिग तीस लाख रुपये का सौदा न कर रहे हों, भीख माँग रहे हों।

फर्गुसन, सेठ जी के चेहरे पर आँख गड़ाये कोई एक दो मिनट देखता रहा और अपनी मूँछों को बल देता हुआ बड़ी ऐंठ के साथ बोला—वेल सेठ, हम डो लाख कम कर डिया....

....और सौदा अट्ठाइस लाख पर पक्का हो गया। लिखा-पढ़ी हो गयी। प्रिंस टैक्सटाइल्स सेठ रामप्रसाद झुनझुनिया की हो गयी।

सभी लोगों की तरह मिल के स्टोरकीपर पंडित हरस्वरूप चतुर्वेदी को भी इस बात से बड़ी खुशी हुई।

यह उनके लिए एक गैरमामूली बात थी कि उस शाम को जब वह घर लौटे तो उनके हाथ में आध सेर मलाई और चेहरे पर मुस्कराहट थी। पंडित हरस्वरूप तबीयत के तो नेक आदमी थे मगर स्वभाव से काफी घुन्ने और चिड़चिड़े थे। बहुत कम लोग यह दावा कर सकते थे कि उन्होंने पंडित हरस्वरूप को मुस्कराते देखा है। और वही पंडित हरस्वरूप आज मुस्कराते हुए घर में दाखिल हुए थे और मुस्कराते हुए अपनी पत्नी से बोले थे—सुना तुमने, रमेश की अम्मां, आज से मिल हमारी हो गयी, सेठ रामप्रसाद ने उसे फर्गुसन साहब

से खरीद लिया। अब हमारा पैसा विलायत नहीं जायगा। अब मुल्क की सारी दौलत मुल्क में ही रहेगी।....फर्गुसन साहब आदमी तो अच्छा था, रमेश की अम्मां, मगर तब भी था तो विदेशी। और विदेशी कितना ही अच्छा क्यों न हो अपने देश वालों का मुकाबला थोड़े ही कर सकता है।

रमेश की अम्मां में स्त्री की सहज व्यवहार बुद्धि थी। मगर पति के उत्साह को देखते हुए उसने दबी ज़बान से सिर्फ इतना कहा—उससे कुछ नहीं आता जाता जी। व्यापारी तो बस व्यापारी होता है।

पं० हरस्वरूप ने अपनी आस्था में कोई फर्क नहीं आने दिया और बोले—तुम बात गलत नहीं कहतीं रमेश की अम्मां, मगर कुछ भी हो स्वदेशी-विदेशी का फर्क फिर भी रहता ही है।....

उस रोज पंडित हरस्वरूप सचमुच बड़े प्रसन्न थे। और क्यों न होते। अब वह किसी अंग्रेज़ के गुलाम नहीं, अपने ही जैसे एक हिन्दुस्तानी के कर्मचारी होंगे। यों उनके लिए बात बहुत कुछ एक ही थी। किसी की लल्लो-चप्पो से उन्हें कोई मतलब न था, बस अपने काम से काम। धर्मभीरु आदमी थे और अपने ढंग के एक ही आस्तिक, सच्चे आस्तिक, वैष्णव। वह सचमुच अपने को हर समय ईश्वर के समक्ष अनुभव करते थे। दिन के चौबीस घंटों में उनके प्रायः तीन-चार घंटे पूजा-पाठ में लगते थे। मगर उनकी आस्तिकता की माप यह न थी कि वह तीन चार घंटे पूजा करते हैं बल्कि यह कि सोते-जागते हर समय उनको भगवान् की, सत् असत् की चेतना रहती है। जो आदमी सिर्फ मुँह से नहीं दिल से राम को घटघटवासी मानता हो वह कोई छल-छन्द करेगा भी कैसे। और फिर जहाँ गोदाम में पचासों लाख का माल पड़ा हो, वहाँ जरूरत भी तो ऐसे ही आदमी की थी जो इधर का तिनका उधर न करे। लिहाजा वह सत्ताइस साल से प्रिंस टेक्सटाइल में स्टोरकीपर थे और गो कि यह सच है कि झूठ और दग़ा-

बाज़ी के इस युग में लोग आम तौर पर उनकी ईमानदारी का मज़ाक उड़ाते थे और उन्हें सिड़ी खयाल करते थे। मगर उसके साथ ही साथ यह भी सच है कि सचाई और ईमानदारी का अपना एक खास दबदबा होता है और यही वजह थी कि गोरखे चौकीदार से लेकर खुद फर्गुसन साहब तक सब पर पंडित हरस्वरूप का एक अजीब दबदबा था जो यों समझ में नहीं आता। मगर पंडित हरस्वरूप ऐसी मिट्टी के बने थे कि उनकी दृष्टि में इस चीज का भी कुछ मूल्य न था। एक तरह की विरक्ति उनके स्वभाव का अंग बन गयी थी। उनके लिए किसी चीज़ का कुछ मूल्य न था। परिवार है, उसका पेट पालना है, इसलिए जीविकोपार्जन करना है, पेट पलता जा रहा है, बहुत है। इससे ज्यादा ध्यान दिया भी क्यों जाय? ध्यान देने को क्या बस यही एक चीज़ है?

लोग उन्हें सिड़ी ख़्याल करते थे तो कुछ गलत थोड़े ही करते थे। न किसी से मिलना न जुलना, न कहीं आना न जाना। बस घर से दफ़्तर और दफ़्तर से घर। सुबह-शाम जब भी मिलने जाइए, एक ही जवाब कि पूजा कर रहे हैं।

मगर कोई क्या कर सकता है? हर आदमी का अपना रंग होता है। पंडित हरस्वरूप का यही रंग था। वह भगवान् के दरबार में रहते थे और उनकी तो उसी कुंजबिहारी राधावल्लभ से लौ लगी हुई थी। क़ायदे की बात तो यही होती कि वह कहीं एकांत में हरि भजन करते और इसी में ज़िन्दगी गुजार देते मगर किसका भाग्य ऐसा बली है। तो भी कुल मिलाकर पंडित हरस्वरूप सुखी व्यक्ति थे, भरा-पूरा परिवार था, घर-बाहर सब जगह उन्हें स्नेह नहीं तो आदर ज़रूर मिलता था क्योंकि घर-बाहर सभी जगह वह अपनी ज़िन्दगी में इंतहाई ईमानदारी बरतते थे।

और अब तो वह और भी लगन से काम करने लगे। पहले अगर

पौने दस पर दफ्तर पहुँचते थे तो अब साढ़े नौ पर ही पहुँचने लगे और पहले अगर छः बजे दफ्तर छोड़ते थे तो अब साढ़े छः पर छोड़ने लगे।

इस तरह करीब तीन महीने निकल गये।

तब एक रोज उनको जेनरल मैनेजर का रुक्का मिला कि आप को सेठजी ने याद किया है। पंडित हरस्वरूप को यह बात अच्छी मालूम हुई कि उनको सेठजी ने याद किया है। कुछ पूछना-जांचना चाहते होंगे। मालिक हैं, पूछेंगे नहीं।

सेठजी ने पूछा—कहिए पंडित जी, कामकाज कैसा चल रहा है?

पंडित हरस्वरूप ने हँसकर जवाब दिया—आपके आशीर्वाद से अच्छा ही है अन्नदाता। आपने देखा ही होगा कि पिछले महीने प्रोडक्शन सवाया हो गया और भगवान् ने चाहा तो इस महीने ड्योढ़ा हो जायगा। अभी तो दस रोज बाकी हैं महीने में।

सेठजी सोंठ बने रहे जैसे उनको इस बात से कोई खुशी न हुई हो। उनके चेहरे से तो यही जाहिर था। बोले—वह तो बड़ा अच्छा हुआ पंडित जी....मगर बिक्री का क्या होगा?

पंडित हरस्वरूप ने कहा—बिक्री की क्या चिन्ता है अन्नदाता। बिक्री तो हो ही रही है।

सेठजी ने कुछ चिढ़ते हुए कहा—आप तो बहुत दिन से यहाँ काम कर रहे हैं?

पंडित हरस्वरूप ने बहुत ही विनयपूर्वक कहा—मुझ को यहाँ सत्ता-इस साल हो गये अन्नदाता और भगवान की ऐसी कुछ कृपा मेरे ऊपर रही है कि कभी एक धागा भी इधर-उधर नहीं हुआ।

सेठजी ने हलके से डपटने के स्वर में कहा—वह तो आप की बहुत बड़ी कारगुजारी है। मैं सुन चुका हूँ। मगर मैं आप से पूछता हूँ कि क्या सत्ताइस साल तक आप घास ही छीलते रहे हैं?

पंडित हरस्वरूप कुछ भी न समझे कि उन्हें आखिर क्यों डांट पड़ रही है। बगलोल की तरह सेठजी का मुँह ताकते रहे और फिर मुर्दा सी आवाज में बोले—मैंने अपनी जान में तो कोई काम नहीं बिगाड़ा अन्नदाता।

सेठजी ने उनके सवाल की ओर कोई ध्यान न देकर माल का रजिस्टर देखते हुए कहा—आपने यह जो चार लाख का माल दिखलाया है, क्या यह सब का सब कन्ट्रोल में दे दीजियेगा?

पंडित हरस्वरूप संकेत को ठीक से समझे नहीं। डरते डरते बोले—जी सर—कार।

सेठजी ने अपनी बात दुहरायी—मैंने कहा, क्या आप सारा माल कंट्रोल में दे दीजिएगा या कुछ अलग से भी बेचिएगा?

पंडित हरस्वरूप ने बौड़म की तरह पूछा—अलग से कहां अन्नदाता? ब्लैक में?

सेठ जी को अब तक काफी क्रोध आ गया था। बोले—ब्लैक—ह्वाइट मैं कुछ नहीं समझता। व्यापार तो व्यापार है, उसमें क्या ब्लैक क्या ह्वाइट। मैं आपसे पूछता हूँ आदमी दो पैसा कमाने के लिए ही तो व्यापार करता है? यह कन्ट्रोल तो सचमुच कण्ठरोध है, गले की फांसी, और आपने शायद आज तक इसकी बाबत सोचने की भी जरूरत नहीं समझी—वो जमदूत आये और ठप्पा मार गये सारे माल पर जैसे उनके बाप ही का तो हो सब कुछ, और मैं पूछता हूँ अगर यही होना है तो फिर आप किस मर्ज की दवा हैं?

पंडित हरस्वरूप ऐसे खड़े सुनते रहे जैसे उनकी वाकशक्ति किसी ने छीन ली हो।

सेठजी ने रोष की भंगिमा को छोड़कर अब शुभाकांक्षी गुरुजन के स्नेह और आदेश के संयत दृढ़ स्वर में कहा—और फिर कम्पनी के फायदे में आप का भी तो फायदा है। रुपये की जरूरत आजकल किसे

नही रहती। आपके भी बाल बच्चे होंगे ही। महंगी के मारे तो जीना मुहाल है। तो आप बात समझ गये न ? और हां, देखिए यह रजिस्टर मेरे पास रहेगा। आप अब एक दूसरा रजिस्टर बनाइए। आप समझे मैं क्या कह रहा हूँ ? एक दूसरा रजिस्टर बनाइए और उसमें कुल डेढ़ लाख का प्रोडक्शन दिखलाइए—

न चाहते हुए भी पंडित हरस्वरूप के मुँह से बेसाख्ता निकल गया—और बाकी अढ़ाई लाख ?

सेठ जी ने सोचा था कि रुपये की बात सुनकर पंडितजी की बाछें खिल जायेंगी। मगर कुछ हुआ नहीं, पंडित जी पर कोई असर ही न पड़ा। इस पर सेठ जी को बड़ी चिढ़ मालूम हुई और उन्होंने क्षणिक मिठास का अपना वह लहजा छोड़कर मजाक उड़ाने के लहजे में कहा—आग लगा दीजिए....या नहीं....अपने घर उठा ले जाइए....पंडित जी, आप हैं निरे बछिया के ताऊ....बिकेगा, वह अढ़ाई लाख का माल भी बिकेगा मगर अपने ढंग से....और यह तो व्यापार का कायदा है, कोई माल कैसे बिकता है, कोई माल कैसे बिकता है....मैं तो हैरान हूँ कि जब आप को इतनी सी बात समझ में नहीं आती तो आपने सत्ताइस साल स्टोरकीपरी क्या की होगी ?

पंडित हरस्वरूप को आज इतनी गहरी मानसिक चोट लगी थी कि उनकी जबान बन्द हो गयी थी। उन्होंने अपनी सफाई में एक शब्द नहीं कहा। बस शून्य में ताकते खड़े रहे।

सेठ जी को पंडित हरस्वरूप का यों बुत की तरह खड़े रहना भी बुरा मालूम हुआ। बोले—कुछ बोलते क्यों नहीं आप ? मुँह में दही जमा है ? मैं ठीक कह रहा हूँ या गलत ?

प्रलोभन बड़ा था, पैसे की मोहिनी ने एक बार बड़ी बांकी अदा से उन्हें आंख मारी और उनके जी में हुआ कि चेहरे पर आकर्ण मुस-कराहट ले आकर कह दें, 'जो आज्ञा, अन्नदाता' मगर उनके अन्तः-

करण ने स्वीकार नहीं किया और पंडित हरस्वरूप ने कहा—आप बिल-कुल ठीक कह रहे हैं अन्नदाता, मगर मुझ से यह न होगा कि झूठा रजिस्टर बनाऊँ। आखिर को जवाबदेही तो मेरी ही होगी न ?

सेठ जी ने बहुत सादगी के साथ कहा—इसी की तो आपको तन-ख्वाह मिलती है।

पंडित हरस्वरूप ने आज तक कभी मालिक से मुंह दर मुँह बातें न की थीं। उन्होंने सिर्फ इतना कहा—मैं तो अब तक यही समझता था सेठ जी कि मुझ को तनख्वाह मेरे काम की दी जाती है—

सेठ जी बमके—तो क्या यह काम नहीं है जो मैं आप से कह रहा हूँ ?........क्या यह चोरी है ? मैं आप से पूछता हूँ कि कौन व्यापारी है, आप मुझे एक आदमी का नाम बतलाइए, जो दो रजिस्टर नहीं रखता और अपना आधा माल ब्लेक नहीं करता ? और यह भी अगर चोरी है तो व्यापार फिर क्या है ?

सेठ जी को तेज गुस्सा आ गया था, ओंठ फड़कने लगे थे और आवाज चढ़ गयी थी। उसी तैश की हालत में बोले—आप से नहीं होगा—नहीं होगा....मैं जानता हूँ आप से नहीं होगा....आप बड़े अच्छे आदमी हैं, सच्चे आदमी हैं, ईमानदार आदमी हैं, धर्मात्मा आदमी हैं और मैं आप की कद्र करता हूँ मगर मुझे धर्मात्मा लोगों की जरूरत नहीं है....मुझे चलते-पुर्जे आदमी चाहिए, तेज़ आदमी, जो बिजनेस का गुर समझते हों, उस्तरे की तरह तेज़, मिर्च की तरह तेज़, जिन की जबान कतरनी की तरह चलती हो और जिनके हाथों में वही बारीकी, वही सफाई हो जो एक अच्छे गिरहकट के हाथ में होती है। हाँ, हाँ गिरहकट। मुझे वैसा ही आदमी चाहिए। आप तो बिलकुल गोबर गनेश हैं। गोबर गनेश पूजा के लिए ठीक होता है, मैं भी अलग एक कोठरी में उसकी पूजा कर लेता हूँ, मगर बिज़नेस के लिए वह ठीक नहीं होता। आप जा सकते हैं। अगले महीने से आप की छुट्टी।

कभी पैसों की जरूरत हो तो बेखटके चले आइएगा—धर्मादे की मेरे यहाँ अच्छी व्यवस्था है। साल में लाखों रुपया दान खाते में जाता है।

गोबर गनेश जी वहां से चले तो उनके पैर भारी पड़ रहे थे क्योंकि कंधे पर गिरस्ती का बोझ था मगर दिल हलका था क्योंकि उस पर असत्य का, पाप का कोई बोझ न था।

और फिर देने वाला तो भगवान है। कोई किसी की रोटी थोड़े ही छीन सकता है? ईमान से बड़ी दौलत और क्या है? अपना ईमान ठीक तो सब ठीक।

यही जुमले मखमल की वह सड़क थे जिस पर श्री १००८ गोबर गनेश पण्डित हरस्वरूप चतुर्वेदी खोये-खोये थके-थके अपने घर की तरफ बढ़े जा रहे थे—उनका घर जो कहीं बादलों के पीछे भगवान के घर के पास नहीं इसी जमीन पर था, जो यों है तो भगवान का ही इलाका मगर जिसकी निगरानी आजकल ठीक से नहीं हो पा रही है क्योंकि बुढ़ापे के कारण भगवान की आंखें कमजोर हो गयी हैं।

दूरियाँ

मैंने और समीर बैनर्जी ने एक साथ ही एलाहाबाद यूनिवर्सिटी से एम० ए० किया था। बी० ए० में भी हम लोग साथ ही थे। विषय तो सब एक नहीं थे, हाँ अंग्रेजी के क्लास में हम लोग ज़रूर साथ थे और एक साथ ही बेंच पर बैठते थे। एम० ए० में तो आकर हमारे रास्ते अलग हो गये थे। मैंने इतिहास में एम० ए० किया था और समीर ने अंग्रेजी में। लेकिन उससे क्या, होस्टल में तो हम लोग चार साल बराबर साथ रहे, पी० सी० बैनर्जी में।

समीर बड़े बाप का बेटा था। उसके पिता सहारनपुर में सेशन जज थे। लम्बी तनख़्वाह थी और समीर बतलाता था कि उन लोगों का रहन-सहन बड़े ठाठ-बाट का था। पिता माया जोड़ने में विश्वास नहीं रखते थे, कहते थे कि उसे घर से निकाल देना ही ठीक होता है। कहते थे, माया जोड़ने के लिए थोड़े ही होती है, भोग करने के लिए होती है। लिहाज़ा सब काम बड़ी शाहखर्ची से होता था और घर में पौने सोलह आने (बाकी का एक पैसा तो जैसे काली चमड़ी का बट्टा था) साहबी तौर तरीके बरते जाते थे। साहब छोटी हाज़री और बड़ी हाज़री खाता था, व्हिस्की और ब्राण्डी पीता था और फाक्सट्राट नाचता था। सूट-बूट, बोल-चाल सबमें साहबी रंग था। मुझे क्या पता होता, खुद समीर ने ही ये बातें मुझे बतायी थीं। कुछ अपनी

शान जमाने के लिए नहीं, यों ही। क्योंकि मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि समीर को इन चीज़ों की शान नहीं थी। बहरहाल समीर को उन चीज़ों की शान रही हो चाहे न रही हो, मैं समझता हूँ उनका लाभ उसे ज़रूर मिला।

मगर यह न समझना कि मैं इसलिए ऐसा कह रहा हूँ कि समी आई० सी० एस० मे आ गया और मैं रह गया। यों देखो तो मुझे समी से ईर्ष्या होनी चाहिए थी। लेकिन समी से ईर्ष्या करने की बात ही कुछ अजीब-सी थी। पन्द्रह-सोलह साल पुरानी बात हो गयी इसलिए स्मृति भी थोड़ी धुँधली पड़ चली है। लेकिन तो भी मैं दिल पर हाथ रखकर कह सकता हूँ कि जहाँ तक मुझे याद है समी की कामयाबी और अपनी नाकामी के कारण मेरे मन में समी के प्रति कोई बुरे भाव नहीं पैदा हुए बल्कि अपनी उस उदासी में भी खुशी हुई और सच्ची खुशी हुई। मैं नहीं जानता, हो सकता है मेरे मन में उस वक्त थोड़ा-बहुत मैल आया हो जो इन पन्द्रह बरसों में कट गया हो। लेकिन जहां तक याद पड़ता है मुझे खुशी हुई थी—मैं नहीं आया तो क्या, समी तो आ गया। यह नहीं कि मुझे निराशा नहीं हुई। निराशा कैसे न होती। न जाने कितने ज़माने से आई० सी० एस०, पी० सी० एस० के झूले पर ही झूलता आ रहा था। यूनिवर्सिटी में पढ़ते समय कभी-कभी तो बस यही लगता था कि जैसे पढ़ने का उद्देश्य कम्पटीशन में आने के सिवा और कुछ न हो।........इसलिए निराशा तो मुझे हुई और गहरी निराशा हुई। इसलिए और भी हुई कि मैं पढ़ने-लिखने में किसी तरह समीर से घटकर नहीं था, बल्कि कुछ अच्छा ही था। बी० ए० में-मैं यूनिवर्सिटी में चौथे नम्बर आया था और समी को तो फ़र्स्ट क्लास भी नहीं मिला था। हाँ, एम० ए० में अलबत्ता हम दोनों ही को फ़र्स्ट मिला था।....उँह, छोड़ो भी, क्या रक्खा है, बहुत पुरानी बातें हो गयीं। तुम क्या समझते हो, मुझे अच्छा लगता है गड़े मुर्दे

उखाड़ना ? मुझे तो ख़्याल भी नहीं था इन बातों का। समीर से अगर आज अचानक मुलाकात न हो गयी होती, तो शायद यह ज़िक्र भी न निकलता। लेकिन हाँ, अब जब ज़िक्र निकला ही है तो अपनी वह बात तो पूरी कर दूँ। ग़रज़ कम्पटीशन के लिए किताबों से जो कुछ जाना और सीखा जा सकता था, वह तो मैंने काफ़ी कुछ सीख लिया था, इसलिए पर्चे तो मैंने ख़ासे अच्छे किये थे। लेकिन भई, इन्टरव्यू की बात और होती है। उसमें जिन चीज़ों की खोज-बीन होती है उनमें मैं ज़रूरत से ज़्यादा कच्चा था। जैसे, अंग्रेजी का लहजा, ऐक्सेन्ट, उठना-बैठना, हाथ मिलाना, टोप हाथ में पकड़ना, अंग्रेजी सलाम-बन्दगी—इन सभी में मैं कच्चा था और समीर खूब मंजा हुआ और क्यों न होता भला—उसी सबके बीच तो उसने आँख खोली थी। कहाँ वह और कहाँ मैं ? मेरे बाप एक आर्य समाजी स्कूल में सेकण्ड मास्टर थे—एक सौ दस रुपये पाते थे। समीर के बाप ब्राह्मो थे—अंग्रेज़ियत उनकी नस-नस में थी। हमारे यहाँ सभी कुछ ठेठ वैदिका था....उसी में मार खा गया मैं।

....मगर खैर, अब छोड़ो उस बात को। सौ बात की एक बात यह है कि समी सिविल सर्विस में आ गया और मैं नहीं आया, पी० सी० एस० में भी नहीं। समी समीर बैनर्जी, आई० सी० एस०, डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट ऐन्ड कलेक्टर बनकर आ गया है और मैं—उंह्, मुझे छोड़ो मैं किस गिनती में हूँ। कहने को वकील हूँ (हां मैंने फिर बाद में लॉ, कर लिया) मगर महीने में मुशकिल से डेढ़-दो सौ की आमदनी होती है। मियाँ-बीबी, मां, बड़ी बहन, पांच बच्चे—मामूली रोटी-दाल भी चलना मुशकिल होता है। दो सौ होता ही कितना है....और देखो, पता नहीं कभी कभी ऐसा भी होता है कि ज़्यादा कुछ करने को जी भी नहीं चाहता, क्या फ़ायदा। ऐसे भी ज़िन्दगी चलती ही है और वैसे ही कौन हवा में उड़ने लगेगी। नहीं, यह वो अज़गर करे न चाकरी

वाली बात नहीं है। सब जानते हैं कि मैं आलसी कभी नहीं था और आज भी नहीं हूँ मगर मैं तुमको क्या बतलाऊँ कभी कभी मुझको ऐसा लगता है कि मेरे अन्दर जैसे कुछ टूट गया है, कि जैसे अब मैं वह दिलीप नहीं जो पहले था। याद नहीं कौन, मगर किसी यूरोपियन दार्शनिक ने कहा है कि जीने में बहुत बड़ा हाथ जीवनैषणा का होता है जिसे वह नाम देता है 'विल टु लिव'....सो मुझे लगता है कि मेरे अन्दर अब वह विल टु लिव ही नहीं रही। खैर जो भी बात हो, उससे क्या आता जाता है। रोज़ सबेरे उठता हूँ, चतुर्वेदी जी के यहाँ से लेकर अखबार पढ़ता हूँ, दाढ़ी जब घास की तरह, बहुत काफ़ी उग आती है तो उसे अपने नकटे पनामा ब्लेड से छील डालता हूँ लेकिन जो मेरी तबियत का हाल पूछो तो कुछ अजीब ही है। दाढ़ी मुँडी है तो अच्छी, नहीं मुँडी है तो अच्छी। कपड़े साफ़ हैं तो साफ़ हैं, गन्दे हैं तो गन्दे हैं। सब ठीक ही है। क्या रक्खा है इसमें। सब चलता है। फ़िज़ूल के चोंचलों में कौन पड़े, जितना बढ़ाओ बढ़ते हैं। कहने को कह सकते हो कि ये बातें बुड्ढों ही को ज़ेब देती हैं, लेकिन अगर उम्र पर न जाओ और असलियत को देखो तो मैं ही कहाँ का बड़ा जवान हूँ। यों तो पैंतीस की उम्र भी कम नहीं होती, खासकर हमारे मुल्क में और....और पाँच बच्चों के बाद तो आदमी यों भी बूढ़ा हो जाता है। मैं कुछ झूठ नहीं कहता, तुम जिससे चाहे पूछ देखो....पाँच पाँच बच्चे, रोज़ रोज़ की तंगी, घर की दांता-किलकिल—ज़िन्दगी अजीब नौरतन की चटनी है यार, कुछ मज़ा नहीं मिलता। वैसे कभी मिलता भी है। लेकिन यों ही है सब। इधर कुछ महीनों से ग़ालिब का एक शेर मुझे बेहद भाने लगा है और मैं उसे अक्सर गुनगुनाया करता हूँ गो मैं जानता हूँ तुम फिर यही कहोगे कि एक नौजवान के मुँह से यह शेर बहुत भला नहीं मालूम

होता। मगर यार, टालो भी इस बेकार बहस को, कुछ नहीं रक्खा है इसमें, शेर सुनो—

हो चुकीं ग़ालिब बलायें सब तमाम,
एक मर्गे नागहानी और है।

कितना प्यारा शेर है, जैसे ज़माने का सारा दर्द इसमें निचुड़कर आ गया हो। लेकिन अजीब बात है, मैं तो जब-जब इस शेर को पढ़ता हूँ तबीयत कुछ हलकी हो जाती है, जैसे अन्दर का कुछ ज़हर इसी बहाने बाहर आ जाये—

मगर छोड़ो भी, यह मैं कहाँ का रोना लेकर बैठ गया। सब ठीक ही है। कुल मिलाकर खुश हूँ। कोई शिकायत नहीं है मुझे—और हो भी तो क्या हासिल। जितना कमा पाता हूँ कमाता हूँ और अपने बीबी-बच्चों में मगन हूँ। हर साल दो साल पर भगवान की कृपा से घर में इज़ाफ़ा हो जाता है। और जहाँ इतनों की परवरिश हो जाती है वहाँ एक-दो-चार खाने वाले और सही। आस्तिक आदमी हूँ, ईश्वर को मानता हूँ, बर्थ कन्ट्रोल मुझको ग़लत चीज़ मालूम होती है। परमात्मा की अगर यही मर्ज़ी है कि घर में काफ़ी से बच्चे हों, तो मैं कौन होता हूँ उसकी कारसाज़ी में टाँग अड़ाने वाला। और एक दो कम-ज्यादा से फ़र्क़ भी क्या पड़ता है? अरे यह भी एक चोंचला है यार, छछूँदर है, छोड़ दी है और कुछ लोग उसके पीछे भागे जा रहे हैं।....जो है, सब ठीक है। मैं तो अपने को खुश ही समझता हूँ। यों तो आदमी हूँ, कभी-कभी बुरा लगता ही है जैसे आज—

आज हुआ यह कि समीर बैनर्जी से मेरी मुलाक़ात हो गयी। इतने बरसों बाद। एकदम अचानक। अभी तीन ही चार दिन तो हुए हैं उन्हें फ़ैज़ाबाद आये। काफ़ी पहले सुना था कि गुप्ता साहब की जगह कोई एस० बैनर्जी साहब आ रहे हैं, मगर सच पूछो तो उस वक्त मुझे खयाल भी नहीं आया कि यह समीर बैनर्जी होगा। मैंने पता लगाने

की कोशिश भी नहीं की, वर्ना पता चल ही जाता।....खैर तो हुआ यह कि आज अचानक ही कचहरी के गलियारे में उनसे मुलाकात हो गयी। आदमी बदला थोड़े ही है, बस थोड़ा और सुर्ख, और चौड़ा-चकला हो गया है—तो मैं पहचान तो गया नज़र पड़ते ही और खड़ा हो गया और चाहता था कि कतराकर निकल जाऊँ लेकिन कहाँ? समीर ने भी तो मुझे देख लिया था। समीर की जगह कोई दूसरा अफसर होता तो उसने मुझे देखकर भी अन-देखा कर दिया होता, कहाँ कलक्टर और कहाँ मेरे ऐसा एक निहायत टुटपूँजिया-सा वकील। जो असल अफ़सर होते हैं वह तो शुमार में भी नहीं लाते हम ऐसों को। और अच्छी ही बात है यह कि सब अपनी माकूल जगह पर रहें मगर यही तो बुरी बात है इस ज़ालिम में कि वह ज़रा भी नहीं बदला है। ताज्जुब है, उसके अन्दर ज़रा-सी भी अफ़सरी की बू नहीं आयी है....या आयी हो तो आयी हो कौन जाने। मेरे साथ तो उसका बर्ताव पहले जैसा ही था। मुझे हाथ पकड़कर घसीट ले गया अपने कमरे में। कलक्टरी के बहुत से मुलाज़िमों ने और कुछ वकीलों ने इस चीज़ को देखा भी और काफ़ी हैरत से, मगर उस शेर को इन सब बातों का क्या लिहाज़, उसका तो ढंग ही निराला है।

समीर मुझको अपने साथ घसीटकर ले तो इसी ख़याल से गया था कि कुछ देर इत्मीनान से बैठेंगे और समय की मर्यादा के अनुसार बीते दिनों की बातें करेंगे—होस्टल के इस-उस लड़के की (अब तो नाम भी भूल गये), रेस्तोरां के बौड़म मैनेजर की, उस वक्त की कुछ पटाखा लड़कियों की (जो अब तक कब की फूटफाटकर ख़त्म हो चुकी होंगी, राख का ढेर, गन्धक का बादल!), और जो भी बात उन्हें करनी रही हो मगर वह सब कुछ भी नहीं हो सका क्योंकि अभी हम इत्मीनान से बैठ भी नहीं पाये थे कि टेलीफ़ोन की घण्टी घनघना उठी और समीर को किसी ज़रूरी काम से कहीं चले जाना पड़ा। होगी कोई

बात, किसे मालूम है....समीर में कोई अफ़सरी की बू नहीं है मगर इस बात से कैसे इनकार किया जा सकता है कि अफ़सर का वक़्त वक़्त होता है और मेरे-जैसे टुटपूंजिये वकील का क्या—मगर खैर, उसका मुझे कोई शिकवा नहीं, काम आ जाय सर पर तो करना ही पड़ता है ।....उस वक़्त जाना समीर साहब को भी कुछ ज़रूर बुरा लगा, और उन्होंने कहा—माफ़ करना भाई आज के लिये । सोचा था बैठेंगे दस बीस मिनट, मगर अभी मालूम हुआ कि होम मिनिस्टर साहब इधर से गुज़र रहे हैं, स्टेशन जा रहा हूँ....किसी रोज़ घर पर आओ तो ज़रा जमकर बातें हों ।

यह कहकर समीर साहब चले गये और मैं बार रूम में लौट आया। समीर ने मुझको अपने घर आने की दावत ज़रूर दी थी मगर मेरा कोई इरादा उनके घर जाने का नहीं था । अब वह ठहरे जिले के सबसे बड़े हाकिम और मैं एक अदना-सा वकील । और देखो भाई, छोटे-से-छोटे आदमी की भी अपनी एक इज्ज़त होती है और उसकी हिफ़ाज़त इसी तरह मुमकिन है कि आदमी अपनी हदें मानकर चले । ....यह मैं कब कहता हूँ कि समीर मेरा दोस्त नहीं था । था और अच्छा दोस्त था । लेकिन अब वह 'बैनर्जी साहब' है, 'कलक्टर साहब' है....अब तो वह बात नहीं है और देखो हालात बदल जाते हैं तो बुद्धि भी बदल ही जाती है । समझदार आदमी को यह बात समझनी चाहिए....मैं नहीं कहता कि समीर का मन उस तरह फिर गया है मगर फिर भी....क्या फ़ायदा....दूर-दूर रहना अच्छा होता है ।

इस तरह समीर साहब के घर जाने की बात मैंने दिल ही से निकाल डाली । उन्होंने कहा—किसी रोज़ घर पर आओ....मैंने कहा, ज़रूर आऊँगा किसी रोज़, मगर मेरा कोई इरादा नहीं था क्योंकि सभ्य समाज में उठते-बैठते इतनी अक्ल मुझमें आ गयी है कि बहुत-से न्यौते यों ही दे दिये जाते हैं....मैं जानता हूँ समीर का न्यौता ऐसा नहीं था

मगर फिर भी पता नहीं क्यों मुझे अपनी दूरी बनाये रखना अच्छा मालूम होता है। तुम कह सकते हो कि मुझे अपनी दो कौड़ी की इज़्ज़त बहुत प्यारी है। शायद ठीक ही कहते हो तुम। यह भी सही है कि मेरी इज़्ज़त दो कौड़ी की है और यह भी सही है कि वह मुझे बहुत प्यारी है....मगर ख़ैर, अभी छोड़ो इस फ़िज़ूल की बहस को।

मैं कह यह रहा था कि मेरा कोई भी इरादा समीर साहब के यहाँ जाने का न था मगर ऐसा संयोग हुआ कि पांच ही छः दिन बाद मैं अचानक उनके यहाँ पहुँच गया, जी हाँ, उनके घर।

सनीचर के दिन की ही तो बात है। मैंने अपने मन में कहा—कचहरी से सीधे घर तो रोज़ ही जाता हूँ, आज तो सनीचर है। आज चलो मनोहर के घर होकर चलेंगे। एक बार ख़याल आया कि पहले सीधे घर चलूँ और मुँह हाथ धोकर कुछ चाय-पानी करके निकलूँ मगर फिर मैंने सोचा कि उसमें ख़तरा है। एक बार घर जाकर फिर घूमने के लिए निकल पाऊँगा कि नहीं, इसका कुछ ठीक नहीं। कौन जाने कोई काम ही निकल आये। इसलिए यही अच्छा होगा कि मनोहर के घर होकर चला जाय। सो वही मनोहर के घर जा रहा था। कलक्टरी से निकलकर मैं अभी पचास कदम भी नहीं आया होऊँगा कि पता नहीं किस जहन्नुम से निकलकर काली-काली घटाएँ उमड़ आयीं और देखते देखते, गड़गड़ाकर बरसने लगीं।....दिसम्बर का महीना और यह बारिश, वाह रे! मैं तो दंग रह गया। मौसमों को भी पता नहीं अब क्या हो गया है, कुछ समझ ही में नहीं आता, सारे मौसम जैसे एक में गडमड हो गये हों। तुम ही कहो, दिसम्बर के महीने में कौन ऐसी बारिश को ख़याल में लायेगा?....मेरी तो बात ही छोड़ो। मैं तो ऐन बरसात में भी इसी तरह निकलता हूँ, न तो जिस्म पर बरसाती और न सर पर छाता। छाता लगाकर साइकिल चलाना मुझे बड़ा भोंडा मालूम होता है और बरसाती ओढ़कर साइकिल चलाने में पैर फंसते

हैं। लिहाज़ा मैं कुछ भी नहीं लगाता।....तो खैर, मेरी तो बात ही छोड़िए, दूसरा भी कोई आदमी दिसम्बर में छाता और बरसाती लेकर नहीं चला करता....क़िस्सा कोताह, बारिश जो गड़गड़ाकर हुई तो दो मिनट में मैं एकदम लथपथ हो गया। ऐसी डबल-डबल बूँदें थीं कि तुम देखते तो कहते। बारिश को सिवाय कोसने के दूसरा मैं कर भी क्या सकता था। भींग रहा था और पानी को कोस रहा था और पैडल मारे जा रहा था। तभी मुझे एकाएक सुनायी पड़ा जैसे किसी ने मुझे आवाज़ देकर कहा हो—अरे ओ बाबू साहब, जरा सुनिये....

मैं चकरा गया। इस आँधी-पानी में कौन है जो मुझे बुला रहा है? मैं रुक गया और एक आदमी को अपनी तरफ़ आते देखकर साइकिल से उतर कर एक पेड़ के नीचे खड़ा हो गया। वह आदमी और पास गया तो मैंने कहा—तुमने मुझे आवाज़ दी क्या? क्यों, क्या है?

वह बोला—हुजूर, आपको साहब बुला रहे हैं।

—साहब? साहब कौन?

—हुजूर कलक्टर साहब।

—ओः कलक्टर साहब....

—जी हाँ, हुजूर, कलक्टर साहब। यही तो है उनका बंगला। साहब बरामदे में कुर्सी डाले बारिश की बहार देख रहे थे कि उनकी निगाह आप पर पड़ी और उन्होंने मुझे आवाज़ देकर कहा—अहमद अहमद, ज़रा इन बाबू साहब को पकड़ना तो जा बाहर साइकिल पर भीगते चले जा रहे हैं........और मैंने लपककर आपको आवाज़ दी हुजूर........

तब तक मैं फाटक में दाखिल हो चुका था।

समीर पर नज़र पड़ी। वह आरामकुर्सी पर लेटा हुआ था और

एक किताब उसकी गोद में पड़ी हुई थी। उसके पास ही दूसरी कुर्सी पर एक बहुत फैशनेबुल महिला थीं। मैंने अपने मन में कहा—समीर की धर्मपत्नी होंगी। वह भी आराम कुर्सी पर लेटी हुई थीं और जहाँ समीर की गोद में कोई किताब थी वहाँ उनकी गोद में एक खूबसूरत-सा स्पेनियल था।

बारिश की तेज़ी कम हो गयी थी लेकिन अब मेरे लिए तो सभी कुछ बराबर था और झींसी तो जैसे पड़ ही रही थी। मैं बरामदे की तरफ़, उन लोगों की तरफ़ बढ़ा जा रहा था सही मगर मेरे दिल पर उस वक़्त क्या गुज़र रही थी, इसे मेरा दिल ही जानता है। किसी जादू से अगर मैं उस वक़्त हवा में छूमन्तर हो सकता तो मुझसे ज़्यादा खुशी किसी को न होती। हजार-हजार बार कोस रहा था अपने आप को कि कहाँ आ मरा।

तभी मैंने समीर को कुर्सी छोड़कर उठते देखा और मेरे कान में आवाज़ आयी—जनाब कहाँ भीगते चले जा रहे थे ? अहमद, साहब की साइकिल लेकर रख लो। आओ दिलीप....

—अनु, यह दिलीप बाबू हैं, मेरे पुराने सहपाठी। और दिलीप यह अनु है, मेरी पत्नी। पूरा नाम है अनुराधा मगर कोई पुकारता है अनु कोई पुकारता है राधा।

मैंने अधिक से अधिक शालीनता से उनको नमस्कार किया। कुछ लजायी-सी तो लगीं वह भी लेकिन उनके गाल पर रूज की लाली इतनी ज़्यादा थी कि मैं ठीक से कुछ नहीं कह सकता।

समीर ने नौकर को कुर्सी लाने के लिए कहा लेकिन तभी उसका ध्यान शायद और भी पैने रूप में इस बात पर गया कि मैं भीगकर एकदम लथपथ हो रहा हूँ और ठण्ढ से मेरे दांत बज रहे हैं और उसने मुझसे कहा—तुम तो बुरी तरह भीग गये हो दिलीप। और सर्दी भी तो लग रही होगी ? चलो अन्दर चलो, आग के सामने—

मुझको कुछ कहने का मौका नहीं मिला। आगे-आगे समीर चला और पीछे-पीछे मैं। अनुराधा जी उल्टी तरफ़ शायद अपने कमरे की ओर बढ़ गयीं।

अपने उन गीले कपड़ों और गीले जूतों में मुझे ड्राइङ्ग रूम में जाने में भी झिझक मालूम हुई। बाहर से एक ही नज़र में मैंने भांप लिया था कि कमरा सजाने में जितना पैसा लगा है कलात्मक रुचि भी उतनी ही लगी है और दोनों के योग से वह कमरा सचमुच ऐसा बन गया था कि आदमी एक बार देखे तो थोड़ी देर देखता रह जाय। अरे मुझे छोड़ो, मैं किस शुमार में हूँ। दो-तीन कमरों में घुस-पिलकर ज़िन्दगी गुज़ारता हूँ और ऐसी हालत में रहता हूँ कि अगर इससे भी कम में गुज़र करना पड़े तो भी कुछ ख़ास फ़र्क़ न पड़ेगा। जिस तरह पैसा एक हद तक ही अपना जलवा दिखला सकता है और उसके बाद कुछ कम या कुछ ज्यादा से कुछ नहीं बनता-बिगड़ता, उसी तरह तंगी और बदहाली भी एक हद तक ही अपना रंग दिखलाती है और उसके बाद कुछ ज्यादा या कुछ कम सब बराबर हो जाता है।....

मगर छोड़ो उस बात को, मेरे कहने का मतलब यह है कि कमरा बहुत ही खूबसूरती से सजा हुआ था। पूरे कमरे में एक खूब ही मोटा गुदगुदा और क़ीमती, फ़ालसई रंग का कालीन बिछा हुआ था, जिस पर बड़े-बड़े सफ़ेद फूल बने थे, बीच में और चारों किनारों पर। उस पर पैर रखने में मुझे झिझक मालूम हो रही थी क्योंकि जूता उतार देने के बाद भी मेरा पैर तो आख़िर गीला ही था। मैं ही जानता हूँ कि उस वक्त मेरी क्या हालत हो रही थी। मैं कभी अपने दुश्मन को भी यह बददुआ न देता कि वह ऐसी अड़दब में फँसे....मोटे-मोटे कुशन के तमाम सोफ़े थे, जो मुझको अपनी तरफ़ खींच रहे थे, उनको देखने से ही आराम का एहसास होने लगता था। दरवाज़ों पर, खिड़कियों पर मिलते-जुलते रंगों के बहुत खूबसूरत, नफ़ीस पर्दे लगे हुए थे। दीवारों

पर बहुत ही दिलकश, आधुनिक ढंग के कलापूर्ण फ्रेमों में जड़ी हुई पाँच-छः तसवीरें थीं और गुलदस्ते तो कमरे में न जाने कितने होंगे। तमाम फूल ही फूल तरह-तरह के गुलदानों में तरह-तरह से सजाये हुए....एक कोने में एक मूर्ति भी रक्खी हुई थी....मैं इन सब चीज़ों को क्या समझूँ। यह दुनिया ही दूसरी थी। मेरी दुनिया में कहाँ सोफे, कहाँ कुशन, कहाँ पर्दे, कहाँ फूल, कहाँ चित्र, कहाँ मूर्ति....कुछ नहीं.... बिसात से बाहर की चीजें हैं ये और मैं तो कहता हूँ कि अगर अलादीन के चिराग़ के ज़ोर से ये चीज़ें घर में एक बार इकट्ठा भी हो जायँ तो, मैं कहता हूँ मान लीजिए हो भी जायँ तो इनका रख-रखाव? वह तो और भी टेढ़ी खीर है। वह कौन करेगा....? सरस्वती? उँः, वह बस नाम ही की सरस्वती है, न पढ़ी न लिखी न किसी बात का सहूर और फिर उन्हें अपने झींखने से फ़ुर्सत हो तब तो कुछ करें....लौंडे हैं वह एक बन्दर की औलाद....यकीन न हो तो बीस, सिर्फ़ बीस मिनट के लिये उनको यहाँ रखकर देख लो—एक चीज़ जो साबूत बच जाय.... गुलदान फूट जायगा, फूल आपस की छीना-झपटी में नुच जायँगे, पर्दे चिथ जायँगे, दरवाज़ों में शीशों की तो बिसात ही क्या उनके कब्ज़े तक हिल उठेंगे और फ़र्श पर का वह फ़ालसई क़ालीन, उस पर तो वह लोट लगायी जायगी कि बीस मिनट में उसका रोआँ-रोआँ झड़कर अलग हो जायेगा। और ये दीवारें जो इतनी साफ़-सुथरी इतनी चिकनी नज़र आती हैं, इन पर तो वो गुल-बूटे बनेंगे कि पूछिए मत....ग़रज़ मेरी तो दुनिया ही अलग है....और यह समीर की दुनिया है, सचमुच कितनी दिलकश कितनी आर्टिस्टिक....चीज़ें तो बहुत कुछ इसी तरह की मैंने पहले भी देखी थीं मगर ऐसी सजावट कहीं नहीं देखी थी। ज़रूर इसमें समीर की पत्नी का ही खास हाथ है। और ठीक भी तो है, गृहलक्ष्मी के यही तो काम हैं—

मैं शायद अपने इन्हीं खयालों में डूबा-डूबा पांवपोश पर ही खड़ा

रह गया था और जैसे सोते से जागा जब समीर ने कहा—रुक क्यों गये ? अन्दर चले आओ। और यहाँ जहाँ मैं खड़ा हूँ यहीं खड़े होकर अपने आपको सुखा लो। फायरप्लेस में आग खूब अच्छी लहक रही है।

मैं आखिर आगे बढ़ा।

समी ने कहा—ये तसवीरें जो तुम देखते हो सब ओरिजिनल्स हैं। इनमें ये दो तो यामिनी राय के हैं, यह एक नन्दलाल बसु का है और वह जो उधर तुम देख रहे हो वह शुभो टैगोर का है और उसके बग़ल में कलरवाश वाला वह लैंडस्केप गोपाल घोष का है। और यह इस कोने में जो तुम देखते हो न, वह एलुरा की एक नदी देवी की अनुकृति है—ओ व्हाट सेन्स आफ़ ब्यूटी द एंशेन्ट्स हैड....टेरि-फ़िक....एस्पेशली आफ़ द फ़ीमेल फ़ार्म*....देखना, अभी उसको और पास से देखना, पहले बदन पर का पानी तो सुखा लो....तुम अब भी वैसे ही बौड़म हो यार, कुछ बरसाती-बरसाती लेकर चला करो—

मैं जवाब में तो कुछ और ही कहना चाहता था मगर कहा कुछ और ही। मैं बोला—आज तो दिन बहुत साफ़ था। किसे ख़याल हो सकता था....

समीर बोला—तो भी....

और फिर दूसरे ही क्षण अपनी रौ में बहते हुए बोला—याद है हम लोग कैसे बैठे बड़े-बड़े कलाकारों की पेंटिंग्स के ऐलबम देखा करते थे—रेमब्रान्त, ब्रान्तिचेली, रैफ़ेल, देलाक्रुआ, गोया, सेज़ान, वैन गाग....तब तक तो हमारी अपनी कुछ खास रुचि भी नहीं बन पायी थी....हरबर्ट रीड की 'सुररियलिज़्म' को लेकर हम लोग गलियारों में खड़े खड़े कितनी बहस किया करते थे....

*—उफ़ ग़ज़ब है ! क्या अनूठा सौन्दर्य बोध था उन पुरानों के पास, विशेषकर नारी देह का !

वह तो सारी बातें अब किसी दूसरे जनम-की-सी कहानी सुन पड़ती हैं। सभी कुछ तो गया, बीत गया। लोग कहते हैं स्मृति नहीं मरती। ठीक ही कहते होंगे, न मरती होगी। मगर अब मुझे याद तो कुछ भी नहीं....बस एक चीज़ की याद आयी, बहुत धुँधली-सी, वक़्त और ज़माने की तमाम राख की पर्तों के भीतर से। किसी आधुनिक चित्रकार ने, नाम तो अब भूल गया, अपने किसी डरावने सपने की तसवीर खींची थी....उसमें भूत-प्रेत नहीं थे, शेर-भालू भी नहीं थे, यहाँ तक कि साँप-बिच्छू भी नहीं थे पर पता नहीं क्या था जो बड़ा डरावना था। वह भाँय-भाँय करता हुआ वीराना और खौफ़नाक भूतों जैसे पेड़, अजीब टेढ़ी मेढ़ी मुद्राओं में खड़े हुए। यह तसवीर तो अब भूल-भाल गयी, सिर्फ़ वह डर की अनुभूति अब तक एकदम ताज़ी है, बिलकुल ज़िन्दा, सांस लेती हुई। एक बार मेरे जी में आया कि तसवीर का हवाला समी को दूँ—याद है वह नाइटमेयर वाली तसवीर....मगर मैंने कुछ नहीं कहा। जुरअत नहीं हुई इसलिये सहमा हुआ सा आग के सामने चुपचाप खड़ा रहा।

तभी समी की बात कान में पड़ी—परेशान-परेशान से क्यों हो दिलीप? अरे भाई अपना ही घर समझो इसे। और फिर दूसरा कोई यहाँ है भी तो नहीं। शेरवानी भी उतार डालो। अन्दर तक भीग गये होगे। ड्राइ योरसेल्फ़ अप वेल....इत्मीनान से घर जाना। जल्दी क्या है।

मैंने समी की बात सुनी मगर नहीं सुनी। इधर-उधर की बातें करता रहा। मगर पता नहीं क्या बात थी कि समी ने पाँच मिनट बाद फिर कहा—भीग-भीग कर बिलकुल स्पंज हो रहे हो यार, शेरवानी उतार क्यों नहीं देते, और जल्दी सूख जायेगी, ऐंड यू नीडनॉट फ़ील डेलिकेट अबाउट इट सिंस देयर इज़ नो लेडी हियर....

यह कहकर समी मुसकराया। मैं भी मुस्कराया लेकिन कोई जवाब

मैंने नहीं दिया। समी की यही बात मुझे नापसन्द है, हमेशा से नापसन्द है! कोई बात हो न हो खामखा पीछे पड़ जाता है! इस बार भी मैं उसकी बात मटील गया—न शेरवानी उतारी, न कुछ कहा। आग के ज़रा और पास सरक गया और गो मुझे अन्दर ही अन्दर उस वक्त कुछ भी अच्छा नहीं मालूम हो रहा था और बस यही जी चाह रहा था कि कैसे यहाँ से छुटकारा हो और भागूँ, तो भी ज़ाहिरा मैं बड़े इत्मीनान से उससे बातें करता रहा, खुद उसी के बारे में पूछता रहा, कैसे क्या हुआ—

समी ने बतलाया भी। बोला—अनु से तो तुम मिले हो। पाँच बरस हुए हमारी शादी को। मगर कह सकते हो कि अभी हमारा हनीमून ही चल रहा है। हमारे कोई बच्चा-वच्चा नहीं और न अभी हमें ज़रूरत ही महसूस होती है, न मुझे न अनु को। अनु के पास अपना वह झबरा कुत्ता है, टिम, और मेरे पास अपनी तसवीरें हैं.... बैठे-ठाले थोड़ा-बहुत पेन्ट भी करने लगा हूँ....

कहकर समीर एक बड़े से लकड़ी के बक्स की तरफ़ बढ़ा जिसमें शायद उसकी बनायी तसवीरें थीं।

....लेकिन नहीं, नहीं दिखाऊँगा....तुम तो ऐसे खड़े हो जैसे अभी टीप लगाकर भाग जाओगे....चलो उतारो शेरवानी और ज़रा इत्मीनान से बैठो तो दिखाऊँ—कहते हुए समीर ने झट मेरी शेरवानी का एक बटन खोल दिया और दूसरे की तरफ़ हाथ बढ़ाया—

मैं डरकर अनायास पीछे हट गया और बोल पड़ा—नहीं नहीं ऐसे ही अच्छा है।

मैंने कह तो दिया मगर लगता है समीर की समझ में बात कुछ खास आयी नहीं क्योंकि वह बग़लोल की तरह मेरा मुँह ताकता रहा और उसकी मुद्रा से यह भी स्पष्ट था कि उसे मेरी बात कुछ बुरी भी

लगी है। खुद मेरे भीतर उस वक्त एक छोटा-मोटा तूफ़ान-सा उठा हुआ था। एक बार तो तेज़ दर्द का एक चकोका-सा आया और बात मेरी ज़बान तक आते-आते रुक गयी—हैं हैं! क्या करते हो! समझते हो, तुम्हीं एक इज़्ज़तवाले हो! मैं भी इज़्ज़तदार आदमी हूँ और शेर-वानी बड़ी गरीबपरवर चीज़ होती है और कलक्टरी एक के अदना-से वकील के पास भी अपनी इज़्ज़त होती है और कोई किसी को बेपर्दा नहीं कर सकता। हुँ: बड़े आये! मेरे पास क्या कमीज़ें नहीं हैं? कभी धोबी-वोबी वक्त से नहीं आया तो ऐसा भी हो जाता है वर्ना क्यों हो—

बात ज़बान तक आयी मगर मैंने कही नहीं और अच्छा ही हुआ कि नहीं कही क्योंकि कहने से फ़ायदा भी क्या, समीर की समझ में तो आती नहीं।

इसके बाद एक दूसरी लहर उठी—देखो समीर, जब ज़िन्दगी के भीतर की गर्मी बुझ जाती है और जीने का उत्साह चुक चलता है तो फिर सभी कुछ ख़ाक में मिल जाता है—कपड़े-लत्ते भी।

यह लहर भी आयी और चट्टान के ऊपर से बहकर उतर गयी। मैंने इस बात को भी नहीं कहा क्योंकि शायद यह भी उसके कानों को विदेशी सुन पड़ती क्योंकि ज़िन्दगी की यह सच्ची थकन वह शायरी वाली थकन तो है नहीं जिसका मज़ा उसे अपने चहेते कवि एलियट में मिलता होगा।

इसके बाद न जाने किन अतल गहराइयों से, जिनका मुझे पता भी न था, उसी वक्त एक और लहर उठी जो मुझे अपने संग बहा ले गयी और मैं यन्त्रचालित-सा झटके के साथ आगे बढ़ा और हड़बड़ी में और बटनों को तोड़ता हुआ शेरवानी खोलकर खड़ा हो गया और अपनी उसी वहशत में शायद चिल्लाकर बोला—शरम काहे की? किस बात की शरम? किसी की जेब काटी है? किसी की गर्दन रेती

है ?....देखो, देखो, यही देखना चाहते थे न—कमीज़ का पता नहीं, बस यही गन्दी बनियाइन है ! तो क्या करूँ ? मर जाऊँ ? छीः !

छी कहते कहते मेरा मुँह कड़वा हो आया और मैं उसी दीवानगी की हालत में कमरे के बाहर आया, पोर्टिको में से साइकिल उठाकर उस पर चढ़ा और ज़ोर ज़ोर से पैडल मारने लगा।

पहाड़-यात्रा

बस पहाड़ पर चढ़ रही थी और जैसे हर सांस के साथ मेरे भीतर नयी ज़िन्दगी भरती जा रही थी।

मैंने जबसे होश संभाला तब से हर साल हम लोग गर्मियों में पहाड़ जाते रहे हैं। कभी शिमला तो कभी मंसूरी तो कभी नैनीताल तो कभी रानीखेत....ग़रज़ कभी मुझे लखनऊ की गर्मी नहीं सहनी पड़ी। हाँ इस साल ज़रूर कुछ ऐसी मजबूरी हो गयी कि हम लोगों को देर तक लखनऊ में रुके रहना पड़ा। बात यह हुई कि किशन को टाइ-फ़ायड हो गया और हम लोग अपने वक्त से नहीं चल पाये। लिहाज़ा इतने बरसों में इस बार मैंने जाना कि गर्मी कैसी होती है। हे भगवान्! जहन्नुम भी इससे गरम क्या होगा। सबेरे, सूरज निकलने के साथ, जो लू चलनी शुरू होती है वह रात बारह बजे तक पीछा नहीं छोड़ती और कभी कभी तो रात भर एक पल को आँख नहीं लगने पाती और सबेरे जब आदमी उठता है, उसका चेहरा मुर्दे जैसा नज़र आता है, और लू भी कैसी, कि जैसे लपटों के थपेड़े। दिन को तो खैर ख़स से बचाव हो जाता है मगर रात को आदमी क्या करे, रात को तो बाहर आना ही पड़ता है और फिर तो साहब पंखे से भी लू निक-लती है। तौबा, तौबा, पता नहीं लोग कैसे ज़िन्दा रहते हैं ऐसी गर्मी

में ! मेरे तो होश उड़ गये। इतने ही रोज़ में। अब कहीं जाकर जान में जान आयी है।

मगर अब छोड़ो उस बात को, अब तो पीछे छूट गया वह जहन्नुम। जिसे भुगतना हो भुगते, हम तो निकल आये। अब तो हम तभी नीचे उतरेंगे जब गर्मी का मर्सिया पढ़ा जा चुका होगा और बारिशें हो चुकी होंगी और हवा में तरी होगी और, कम से कम, पंखे से लू न निकलती होगी।

और बस धीरे धीरे ऊपर चढ़ती जा रही थी और हवा में एक मद्धिम सी खुनकी आती जा रही थी। क्या खूब देश है यह भी, कहीं तो इतनी गर्मी कि आदमी का बस चले तो अपने शरीर की खाल भी केंचुल की तरह उतार फेंके और कहीं इतनी सर्दी कि अभी से गरम कपड़े की ज़रूरत महसूस होने लगी। मेरा पुलोवर बाहर ही था। मैंने पहन लिया। अब मुझे अपनी तबीयत और भी बहाल मालूम होने लगी।

वाह वाह, क्या जगह है। कितने खुशनसीब हैं वो जो यहाँ रहते हैं। उन्हें क्या पता कि हम मैदानों के लोग किस भट्ठी से आते हैं। इन्हें क्या, बारहो महीने ठंडक रहती है, सीधे सादे लोग हैं, ज़रूरतें भी इनकी कम ही रहती हैं और फिर पहाड़ की गोद है। बड़ा सुखी सन्तुष्ट जीवन है इन पहाड़ियों का। आफ़त तो हम लोगों की है जो नई रोशनी के भंवर में फंसे हुए हैं। हमें चैन नहीं है, एक मिनट को चैन नहीं है। हमारी ज़रूरतें बढ़ी हुई हैं। एक गरम सूट से हमारा काम नहीं चलता, हमें छः गरम सूट चाहिए, एक से एक बढ़कर। और टाइयाँ जब तक पचास न हों तब तक हमारी साहबी में फ़र्क समझा जाता है। मगर चैन इतने पर भी नहीं। कभी किसी का कोई सूट भा गया और कभी किसी की कोई टाई आँखों में खुब गयी। और ठीक भी है, आदमी सामाजिक प्राणी है, सबसे मिलता है जुलता है, कभी किसी को अपने यहाँ डिनर पर बुलाता है कभी किसी के यहाँ डिनर खाने जाता है

और दूसरे हज़ार मौक़ों पर लोगों से उसकी राह रस्म होती है और फिर आखिर को इन्सान इन्सान है, आँखें कैसे बन्द कर ले। और यही आँखें तो असल दुश्मन हैं। अजी, इन्हीं आँखों के पीछे सल्तनतें लुट जाती हैं।

और तभी मुझे एक झटका सा लगा, बल्कि कहना चाहिए मेरे दिल को एक झटका सा लगा और मैं उस अनजान लड़की के बारे में सोचने लगा जिसको पिछले साल लगभग इन्हीं दिनों मैंने यहीं नैनीताल में देखा था। नैनीताल में वह मेरे आखिरी दिन थे। मेरे घर के सभी लोग चले जा चुके थे और बस मैं रह गया था। सोचा था, पन्द्रह बीस रोज़ अकेले रहने के मज़े लूँगा। अकेले रहने के मज़े ही कुछ और हैं। कहीं खाया, कभी सोये, कभी जागे, रात की रात गप में गुज़ार दी या ताश में गुज़ार दी, जिधर सींग समायी उधर चल दिये और जब तक मन चाहा अलातूनी घूमा किये, किसी क़िस्म की बन्दिश नहीं। घर-बार के संग तो आदमी को काफ़ी बंधकर रहना पड़ता है। इसीलिए मैंने सोचा कि कुछ रोज़ अकेले रहा जाय।

पहले रोज़ जब मैंने उस लड़की को देखा, तब तीसरे पहर का वक्त था। मैं ब्लूवेल में अकेले बैठा चाय पी रहा था। बादल घिरे हुए थे। काफ़ी तेज़ हवा चल रही थी। उसी वक्त मैंने उसको झील के किनारे-किनारे घोड़े पर सवार सरपट भागते देखा। मैंने उसे देखा और जैसे किसी ने मुझे खञ्जर भोंक दिया। ऐसा रूप ऐसा रंग, ऐसा स्वास्थ्य ऐसा यौवन मैंने जीवन में पहले नहीं देखा था। एकदम सोने की तरह दमकता हुआ रंग (पता नहीं वह कश्मीरी थी या पठान थी या किस क़ौम की थी, मैं कभी जान न सका), काफ़ी लम्बी, खूब तन्दुरुस्त, खूब ही जवान, बिलकुल सांचे में ढले हुए नक्श....मैंने उसे देखा और कलेजा थाम लिया। समझिए कि लड़की नहीं हुस्न और जवानी की

एक उमड़ी हुई घटा थी....जिस पर बरस जायेगी वह खुशनसीब निहाल हो जायेगा। मुझ पर एक सकता-सा तारी हो गया और मेरी निगाहें उसके हुस्न की उस नीली झील में डूबने-उतराने लगीं। घोड़े को उसने अपनी मज़बूत जांघों से कस रक्खा था और उसके बाल हवा में उड़ रहे थे। एक अजब आनबान थी। उसने नीली शलवार और नीला कुर्त्ता पहन रखा था, जो उसके सुनहरे गोरे रंग पर ऐसा खिल रहा था कि बयान नहीं किया जा सकता। और फिर खून के रंग का वह सुर्ख़ दुपट्टा जो उसके ग़ज़बनाक सीने से दूर-दूर हवा में उड़ता हुआ कभी उसके कानों में कुछ कह जाता और कभी उसके होंठों को चूम लेता।

मेरे हाथ का प्याला उठा का उठा रह गया। कह नहीं सकता, मगर शायद उसने भी मुझे देख लिया क्योंकि उसके चेहरे पर एक हलकी सी मुस्कराहट आयी और नाज़-ओ-अन्दाज़ में भी कुछ और शरारत, कुछ और बाँकपन दिखायी दिया। इतना ही नहीं उसने एक बार मेरी तरफ़, अपने हुस्न के इस पारखी की तरफ, घमंड से देखा भी। देखा और रूमाल निकाल कर माथे का पसीना पोछा, घोड़े को एक बार थपथपाया और एड़ लगायी और आगे बढ़ गयी। वही पहली बार मैंने उस हुस्न की मलका को देखा। और वह एक बार का देखना ही किसी को तबाह करने के लिए काफ़ी था। एक अजीब शान थी ज़ालिम में....कि जैसे एलानिया कह रही हो, कभी देखा है ऐसा हुस्न ?....मैं हुस्न-ओ-जवानी का वह फरिश्ता हूँ जिसे इंसान की आँखें ज़िन्दगी में एक ही बार देखती हैं।....तो फिर तुम आओ, मेरे पीछे-पीछे, मैं मलका हूँ और तुम मेरे ग़ुलाम।

कतई वाजिब था ज़ालिम का घमंड और उसको भी इसका पता था।

उसी रोज़ शाम को फ्लैट्स पर मैंने उसे देखा। वह थी और एक कोई बुड्ढा आदमी जो कि शायद उसका बाप था क्योंकि वह भी बहुत

लम्बा और बहुत गोरा था गो कि अब उसके चेहरे पर तमाम झुर्रियाँ आ गयी थीं और कमर झुक गयी थी।

चारों तरफ, न जाने किन-किन के सीनों पर बिजलियाँ गिराती हुई वह लड़की अपनी अछूती आन-बान के साथ घूम रही थी। उसकी नज़र किसी की तरफ न थी मगर उसकी तरफ सबकी नज़रें थीं। मैं यह तो नहीं कह सकता कि उसकी निगाहें मुझको तलाश कर रही थीं, क्योंकि कोई वजह न थी क्यों वह मुझे तलाश करती लेकिन इसमें शक नहीं कि उसकी आँखें ज़रूर किसी को ढूँढ़ रही थीं और जिस वक्त मैंने उसको देखा उसी वक्त उसने मुझको देखा और उसके होंठों पर एक हलकी सी मुसकराहट और आँखों में तलाश के बाद किसी को पाने का सा भाव दिखायी दिया। हो सकता है कि वह मेरी खुशफ़हमी हो, निरी आत्म-वंचना, लेकिन अगर इस बात में कुछ सच्चाई भी हो तो अजब नहीं, क्योंकि, झूठे विनय से क्या लाभ, मैं भी देखने सुनने में बहुत बुरा नहीं हूँ, भगवान् की दया से रंग मेरा गोरा है, छः फुट ऊँचाई है, चौवालिस इंच का सीना है और अपने वक्त में क्रिकेट और फुटबाल का अच्छा खिलाड़ी रहा हूँ।

खैर तो मैंने उस लड़की को देखा और उसी को देखता हुआ, गो कुछ दूर-दूर, चलने लगा। उसने भी मेरी नज़रों को भाँप लिया और वह भी ज़ाहिरा मेरी तरफ़ से बेख़बर लेकिन असल में अच्छी तरह बा-ख़बर होकर चलने लगी। फ्लैट्स पर क़रीब दो ढाई घंटे तक यह खेल चला और हमारी निगाहें कई बार टकरायीं और हर बार जब हमारी नज़रें मिलीं तब हम दूसरी तरफ़ देखने लगे।

यह उसके संग मेरी दूसरी मुलाक़ात थी।

तीसरी मुलाक़ात इसके दो रोज़ बाद हुई...झील पर। साँझ का झुटपुटा घिर रहा था और वह एक नाव पर अपने पिता के संग घूम रही थी और मैं भी अपनी नाव को खुद ही खेता हुआ घूम रहा था

और पता नहीं वह कौन सा चुंबक था जिसके कारण मेरी नाव उससे ज़रा हटकर मगर सदा उसके बराबर-बराबर चल रही थी। और मैं माझियों का एक उदास, बहुत ही उदास गाना गा रहा था। मैं यह नहीं कहना चाहता कि मेरे मन के किसी कोने में यह ख्वाहिश नहीं छिपी हुई थी कि वह लड़की भी मेरे गाने को सुने, लेकिन सच बात यह है कि सबसे पहले मैं अपने सुख के लिए गा रहा था। उस वक्त मेरे मन में कुछ ऐसी ही लहर उठ रही थी।

बड़ी देर तक, बत्तियाँ जल जाने के भी बहुत बाद तक हमारी किश्तियाँ इसी तरह झील के ठहरे हुए, नीरव निस्तब्ध पानी पर तिरती रहीं।

उसके अगले ही रोज़ की तो बात है। वह मल्ली ताल पर, झील के किनारे खड़ी थी। आज वह अकेली थी। मैं भी उसके पास ही खड़ा था। जैसा कि अकसर होता है, सारी नावें जा चुकी थीं, बस यही एक बची थी और उसके दो ग्राहक थे। लड़की ने मेरी तरफ़ देखा। मैंने कहा—आप जाइए। लड़की ने कोई जवाब नहीं दिया, नाव की ओर बढ़ी मगर एक बार फिर पीछे मुड़ कर मेरी तरफ़ देखा और हल्के से मुसकरायी (वही जानी पहचानी मुसकराहट) और मुझको लगा कि जैसे आँखों ही आँखों मे उसने मुझसे कुछ कहा। झूठ क्यों कहूँ, मुझे कुछ डर सा लगा मगर फिर मैं भी हिम्मत करके आगे बढ़ा और उसके पीछे पीछे मैंने भी नाव में पैर रक्खा। दिल का धड़कना इतनी ही देर में काफ़ी कम हो गया था और मैंने मांझी से कह दिया कि उसके साथ आने की ज़रूरत नहीं है।

वह बैठ गयी। मैं बैठ गया। उसने कुछ नहीं कहा। मैंने कुछ नहीं कहा। डाँड़ मेरे हाथ में था और इसी तरह चुपचाप हम किनारे से बहुत दूर निकल आये। मुझे लगा कि इसी खामोशी में यह सारा अनमोल वक्त निकल जायेगा और मैं सोच ही रहा था कि क्या कहूँ

कि तभी यह खामोशी की बर्फ़ टूटी और वह मुसकरायी और बोली—आप बहुत अच्छा गाते हैं।

मैंने कहा—आप बहुत अच्छी घुड़सवारी करती हैं।

इस पर वह खिलखिलाकर हँसी। कितनी प्यारी थी उसकी हँसी.... कि जैसे चाँदी का झरना झरे।

बर्फ़ टूटने के बाद ही तो झरना झरता है। एक बार सिलसिला शुरू हो जाने पर फिर बातों की कमी नहीं रही। कुछ बातें और फिर कुछ खामोशी के लमहे। कुछ खामोशी के लमहे और फिर कुछ बातें। इसी तरह इधर-उधर की बहुत सी बातें हुईं, बहुत सी ऊटपटांग बातें भी हुईं, जो कि आज मुझे याद भी नहीं हैं। लेकिन हाँ, इतना ज़रूर याद है कि उसने मुझसे गाने के लिए कहा और मैंने उस शाम एक दो तीन न जाने कितने गाने गाये और वक्त बिजली के कौंधे की तरह किधर से आया और किधर निकल गया, कुछ पता ही नहीं चला। द्वादशी का चाँद न जाने कब का ऊपर चढ़ आया था। झील के तीन तरफ़ जलते हुए रंग बिरंगे कुमकुमों की झालर झील के ठहरे हुए पानी पर अपना अक्स फेंक रही थी। संदली चाँदनी, झील का ठहरा हुआ अथाह श्यामल पानी, उसके भीतर झिलमिलाती हुई रंगों की दीप-माला, माल रोड की दुल्हनों की तरह सजी हुई दूकानें, जिधर नज़र डालो उधर हरे-लाल-नीले-बैंगनी कुमकुमों की बारात, स्याह पहाड़ों पर दूर-दूर बने हुए, आसमान में क़ंदीलों की तरह लटके हुए मकानों की इक्की-दुक्की रोशनियाँ....यह मेरी पहचानी हुई दुनिया नहीं कोई परियों का देश था जिसमें मैं चाँद की किरनों से बुनी हुई नौका में किसी परियों की राजकुमारी के संग विहार कर रहा था और वही रंगों की दीपमाला मेरे धड़कते हुए हृदय में झिलमिला रही थी और कहीं मेरे सीने में एक मीठा-मीठा सा दर्द हो रहा था क्यों कि इतना सुख,

इतना आनन्द, जीवन का इतना निविड़ उल्लास उसमें समा नहीं पा रहा था।

यह तो एक स्वप्न था जो वास्तव बन गया था....बिल्कुल अप्रत्याशित। मैंने कब जाना था कि मेरी भाग्यलिपि में....

और यह सुख स्वप्न, मधु स्वप्न चला। पन्द्रह के बदले मैं तीस दिन ठहरा और हमने साथ-साथ छककर उस परी लोक की अनिंद्य रूपसुधा का पान किया। नैनीताल इसके पहले कभी मुझे इतना सुन्दर नहीं लगा था। टिफ़िन टॉप पर बैठकर हमने पनीर के टुकड़े खाये और कॉफ़ी पी। हिमालय की धवल हिम मेखला को देखने के लिए चाइना पीक पर चढ़े और कुहरे की वजह से कुछ नहीं देख पाये मगर खूब हँसे और नीचे उतर आये और बहुत बार नग्न रूपसी की तरह लेटी हुई नीली झील के ठहरे हुए पानी को अपने क़हक़हों से मथा और मछलियाँ जो उछलकर ऊपर आयीं उनसे बातें कीं और कहीं चाय पी और कहीं भुनी हुई मछली खायी और कहीं सिनेमा देखा और कहीं किसी नाच घर में जा निकले और इस तरह ज़िन्दगी अगर अंगूरों का गुच्छा है तो उसकी बूँद-बूँद को निचोड़ लिया....

मगर उससे आखिरी बूँद जो गिरी वह अंगूर नहीं मेरे जिगर के खून की थी। क्योंकि एक रोज़ माला चली गयी, बस यों ही चली गयी, कोई पता नहीं ठिकाना नहीं, कुछ कहना नहीं सुनना नहीं, बस यों ही चली गयी, कि जैसे हाथ से प्याली गिर कर टूट जाये।

मुझे वह दिन अच्छी तरह याद है। हम लोग लैंड्स एंड पर थे, धरती के छोर पर। हम दोनों उस बिन्दु पर खड़े थे जिसके नीचे मीलों गहरा खड्ड था। नीचे देखने से झांई आती थी और माला का हाथ मेरे हाथ में था। उस ऊँचाई से नीचे के आदमी गुड्डों के जैसे नज़र

आते थे। मुझे ठीक याद नहीं है मगर शायद काफ़ी देर तक हम दोनों वहाँ खड़े रहे....बस हम दोनों, तीसरा कोई नहीं। बहुत से लोग आये और चले गये मगर हम दोनों खड़े रहे। यही कहना चाहिए कि हमको वक्त का एहसास नहीं था।....तभी पलक मारते-मारते भर में काले-काले बादल घिर आये और हम भाग कर बांज के एक घने पेड़ के नीचे पहुँचे ही थे कि बिजली कड़कने लगी और बड़ी-बड़ी बूँदें गिरने लगीं। माला ने कहा—मुझे बिजली से बहुत डर लगता है।....और मेरे सीने से आ लगी और न जाने क्यों, कैसे, किस प्रेरणा से अपने काँपते हुए अर्द्ध-स्फुट होंठ मेरी तरफ़ बढ़ाये और फिर छिटककर अलग जा खड़ी हुई और बोली—अब चलना चाहिये। मैंने बहुत कहा कि पानी तो थम जाने दो लेकिन उसने एक न मानी और आखिरकार मुझे भी मजबूर होकर उसके साथ उस बरसते पानी में चार मील आना पड़ा।

वही माला के संग मेरी आखिरी मुलाक़ात थी।

उसके अगले रोज़ ही वह चली गयी। मैं तीन बजे के क़रीब जब उसके होटल पहुँचा तो कमरे में ताला लटक रहा था और मैनेजर ने बतलाया कि वह लोग सबेरे ही चले गये। मैं न तब समझ सका था न आज ही समझ सका हूँ कि यह सब क्या हुआ कैसे हुआ, लेकिन शायद यही सपनों का स्वभाव है। न उनके अथ का कोई सूत्र होता है न उनकी इति का कोई सन्धान। जिस तरह अकस्मात् मेरा यह सपना शुरू हुआ था उसी तरह अचानक वह टूट गया।

अब देखना है कि पिछले साल वह माला जहाँ टूट गयी थी उसके आगे की कड़ी इस साल मिलती है या नहीं। इसी उम्मीद में तो आया हूँ। अगर वह नहीं तो दूसरी माला होगी, दूसरा सपना होगा जो उसी तरह अकस्मात् साकार हो जायेगा और फिर वही ब्लूबेल की चाय होगी, वही फ्लैट्स की रंगीनी होगी, वही रंगों की दीपमाला होगी, वही चाँदनी की घुलावट होगी, वही नीली झील का इन्द्रजाल, वही

मीठा, मदिर स्वप्न....पहाड़ कितनी अच्छी जगह है। यहाँ जिस्म को ही तरी नहीं मिलती, दिल-ओ-दिमाग़ की भी फ़रहत का हर सामान रहता है....

और बस एक झटके के साथ रुकी और मैं गोया नींद से जागा। मैं कुछ इस तरह अपने खयालों में डूब गया था कि पता ही न चला रास्ता कब खत्म हो गया। बस टर्मिनस पर खड़ी थी और मुसाफ़िर अपना सामान उतरवा रहे थे। मैं भी घर के सब लोगों के साथ नीचे उतरा और न जाने कैसे नीचे उतरते ही मेरी नज़र (नहीं घबराइए नहीं मेरी नज़र माला पर नहीं पड़ी) वहीं बस स्टेशन के सायबान में मेज़ डालकर रोडवेज़ के बादामी कागज़ों में सर घुसा-कर काम करते हुए एक क्लर्क पर पड़ी। वह एक गोरा सा पस्ताक़द पहाड़ी आदमी था—आँखों के नीचे गहरे नीले हलक़े, उम्र यही कोई चालिस बयालिस, कम-से-कम पाँच दिन की हजामत घास की तरह चेहरे पर उगी हुई, आँखों के पपोटे भारी, बाल रूखे, चेहरा रूखा और वैसी ही रूखी उदास उसकी मुसकराहट। सब इंसान हैं, लेकिन एक मुसकराहट और दूसरी मुसकराहट में कितना फ़र्क होता है। कुछ लोग ख़ामख़ाह मुसकराया करते हैं। आदत होती है। या शायद चेहरे का ढलाव ही ऐसा होता है। खामखाह। यह मुसकराहट नहीं, मुँह चिढ़ाना है। सबको मुसकराने का हक़ नहीं है। मुसकराना उसी को चाहिए जिसके चेहरे पर मुसकराहट सजे, फूल की तरह खिले....जैसे माला के चेहरे पर, जिसकी तलाश में मैं आया हूँ।

मगर यह कैसा अपशकुन हुआ। मेरा मन उदास हो गया। सभी काम कर रहा था लेकिन मन उदास रहा आया। फिर मैंने संकल्प के स्वर में कहा—मैं उदास होने के लिए पहाड़ नहीं आया हूँ, मैं खुश रहने के लिए, क़हक़हे लगाने के लिए, भुनी हुई मछली खाने के लिए और टिफ़िन टॉप पर बैठकर पनीर के टुकड़े कुतरने के लिए आया हूँ,

उदासी तो यों भी बहुत मिल जाती है। आदमी उसके लिए पहाड़ नहीं आता।

मैंने रोडवेज़ के उस क्लर्क और उसकी उदास मुसकराहट को जबरन् अपने ख़याल से दूर कर दिया।

और फिर दो महीने दो लमहों की तरह बीत गये। माला नहीं मिली, मगर और सब कुछ वही था—वही चहचहे, वही क़हक़हे, रंग-ओ-बू के वही झरने जो हमेशा जवान रहते हैं....

इस बीच मैंने दो-तीन बार उस आदमी को देखा, कभी एक बीमार गन्दे बच्चे को गोद में उठाये, कभी मिट्टी के तेल की बोतल हाथ में लिये और कभी एक जवान बुड्ढी औरत के आगे-आगे सर झुकाये चलते हुए। लेकिन जैसा कि वाजिब था। मैंने कभी उसके ख़याल को अपने ऊपर हावी नहीं होने दिया।

जिस दिन हम लोग नीचे उतर रहे थे, मैं जब टिकट लेने गया तो वह आदमी वहाँ नहीं था। न आया होगा, कहीं किसी काम से गया होगा, इसमें ऐसी कौन-सी बात थी। लेकिन मुझे पता नहीं क्यों कुतूहल हुआ और मैंने वहाँ के एक आदमी से पूछा—वह एक नाटे से बाबू यहाँ बैठा करते थे, गोरे-गोरे, दुबले-दुबले, ख़ूबसूरत से....?

—अजी उसको तो महीना होने को आया....उसने ज़हर खा लिया। बड़ा अच्छा आदमी था।

मैंने कुछ नहीं कहा, आकर ख़ामोशी से अपनी सीट पर बैठ गया और बस चल पड़ी।

पहाड़ की सफल यात्रा के बाद अब हम नीचे उतर रहे थे।

रेल की खिड़की से

अब मैं आप को क्या बताऊँ कि खिड़की से क्या दिखाई देता है और क्या नहीं। जब जिस मौसम में निकलिये तब एक नई दुनिया आप को रेल की खिड़की से नज़र आती है....कभी रंगीन और कभी ख़ाकी। रेल की खिड़की से दुनिया की जो तसवीर मिलती है उसमें यही नेकी है कि वह दिलो-दिमाग पर गठ्ठे पड़ने की नौबत नहीं आने देती, वर्ना तो बस सफ़र का सारा मज़ा ही किरकिरा हो जाय....

देखिए साहब, सफ़र का मज़ा किरकिरा होने की बात मत कहिये वह तो बहुत पहले किरकिरा हो चुकता है, टिकट लेने से लेकर डब्बे में दाखिल होने तक में। सारे करम तो इतने ही में हो जाते हैं। कितनी मार-धाड़, धक्का-मुक्की, शोर-शरब्बा, ठेल-ठाल, गाली-गुफ्ता, तू-तड़ाक, अबे-तबे, मां-बहन—यानी यह कि चौरासी लाख योनियों में से गुजरने में मनुष्य को जितनी आपदाओं का सामना न करना पड़ा होगा, उतना तीसरे दर्जे का एक टिकट ख़रीदने में करना पड़ता है। और टिकट खरीदना तो महज़ पहला मोर्चा है, जो फिर भी आसान है उस दूसरे मोर्चे के मुक़ाबले में जो डब्बे में दाखिल होने के लिये जमता है, वह मोर्चा जिसमें रेल की खिड़की के इस पार गठरी-मोठरी से लदी-फँदी जो मानवता खड़ी होती है वह सर्वहारा होती है, शोषित

प्रताड़ित, भूमिहीन और खिड़की के उस पार जो लोग ज़ाहिरा बहुत इत्मीनान के साथ मगर बहुत दम घुटती हालत में किसी भांति बैठे नजर आते हैं वे अत्याचारी शोषक होते हैं, दस्यु—जो दूसरे का अधिकार हड़प कर बैठ गये है। यह रेल की खिड़की के इस पार, बाहर वाले लोगो की दृष्टि है। रेल की खिड़की के उस पार, भीतर वाले लोगों की दृष्टि में वे ही अपने स्थान और अपनी स्थिति के न्यायपूर्ण अधिकारी हैं, बाक़ी बाहर जो शोर मचाती भीड़ खड़ी है और दरवाजे तोड़ कर अन्दर घुस आना चाहती है, वह तो एक अंधी, भूखी भीड़ है, जो किसी नियम विधान को नहीं मानती, जिससे इस दुनिया की बुनियादों को ख़तरा है। इसलिए दोस्तो, तुम जो डब्बे के अन्दर हो, उनका मुक़ाबला करो जो डब्बे के बाहर हैं....बस फिर क्या है, तुरत मोर्चा जम जाता है, दरवाज़े बंद कर दिये जाते हैं और उन पर अच्छे तगड़े चौकीदार बिठाल दिये जाते हैं, निगाहों की तलवारें म्यान से निकल आती हैं और ज़बान के तीरों की बौछार शुरू हो जाती है....एक महाभारत आरम्भ हो जाता है।

इस महाभारत में अक्सर किसी का बाल नुचकर किसी दूसरे के हाथ में आ जाता है, इसलिये इस महाभारत के पास ज़्यादा देर खड़े रहने में भी जोखिम है। इसलिये आइये थोड़ी देर को हम यह मान लें कि हम बाहर की भीड़ के उन दो एक लोगों में हैं जिन्हें अंदरवाले अपने में मिलाने के लिये भीतर आ जाने देते हैं। और इस तरह अब हम डब्बे में पहुँच गये हैं और एक खिड़की पर हमारा स्वामित्व स्थापित हो गया है और रेल छुक्....छुक् और छक्....छक् के बाद अब तूफ़ानी गति से बेतहाशा दम छोड़कर भागी जा रही है....

रात है। आठवीं का चाँद आसमान पर है। चूने के पतले घोल जैसी चांदनी रेलवे लाइन के दोनो ओर खेतों पर फैली हुई है, खूब दूर तक जहाँ बस्ती शुरू हो जाती है। मिट्टी के दस बीस घरो का एक

पुरवा, कुछ महुए और आम और कटहल और पीपल और इमली के पेड़....जो सब कुछ भी इस आठवीं के चांद की रोशनी में, दौड़ती रेलगाड़ी की खिड़की से पहचाने नहीं जा सकते, बस उनकी अंधेरी-अंधेरी छायाएँ दिखाई देती हैं। रेल की खिड़की से तो बस एक अंधेरे के रंग की रोशनी या रोशनी के रंग का अंधेरा हर जिन्दा और मुर्दा चीज़ पर फैला हुआ नज़र आता है। इस धुंधलके के पार अंधेरे और रोशनी की दुनिया है। उस तक निगाहें रेल की इस खिड़की से नहीं पहुँचतीं। उसके लिये तो किसी छोटे से स्टेशन पर उतरना होगा, किसी मुचमुचहे इक्के की तलाश करनी होगी और फिर उस पर सवार होकर एक-एक गज गहरे धुस्से वाले रास्ते पर मीलों जाना होगा, अपने जिस्म को आटा करना होगा, धूल में नहाना होगा, तब कहीं जाकर वह उस जगह पहुँचेगा जहाँ उसे हिन्दुस्तान की आत्मा मिलेगी जो अँधेरे के ख़िलाफ़ और रोशनी के लिये हजारों साल से संघर्ष कर रही है, जिसने अंधेरे से कभी हार नहीं मानी गो उसने हजार बहुरूप धर कर उस पर छापे मारे, जिसने रोशनी में कभी अपनी आस्था नहीं खोई, गो बहुत बार सूरज बुझ गया, मगर हर बार उसने अपनी लंबी बाँहें बढ़ा कर उस बुझी हुई कंदील को आसमान से उतारा और उसे अपने दिल की आग से दुबारा और चौबारा रोशन करके फिर से आसमान पर टांग दिया।

यह सब कुछ भी रेल की खिड़की से नहीं दिखायी देता और रात को तो और भी नहीं....बस्ती की अगर कोई निशानी दिखाई देती है तो कुछ टिमटिम दिये और साल-दो-साल में एकाध ही बार गैस का हंडा, जब किसी जमीदार या महाजन के घर की शादी के सिलसिले में पतुरिया का नाच होता है या कोई ठाकुर साहब अपने किसी पातक की शुद्धी के लिये रामायण का पाठ बिठलाते हैं। गांव की ज़िन्दगी में ऐसे दिन कम ही आते हैं वर्ना तो बस ये दिये हैं जो रोशनी से

ज़्यादा अंधेरा फैलाते हैं। इसलिए रेल की खिड़की से बस ये जुगुनू के मानिन्द कुछ दिये नजर आते हैं। चौपाल को गमकाने लिए, गाने वालों की टोलियों को लहकाने के लिए इससे ज़्यादा रोशनी नहीं चाहिए। मगर पता नहीं अब चौपालें क्यों वीरान रहती हैं और गाने वालों के हलक में कांटे कहां से पड़ गये हैं? कोई हमें इसका राज़ नहीं बतलाता कि मुल्क पर आखिर ऐसी कौन-सी वबा आई हुई है कि सब सुन्न पड़ गये हैं। कभी-कभी एकाध मुसाफिर जो खुद इन्हीं मुसीबतों का मारा हुआ है उनका राज़ खोलना शुरू कर देता है। मगर यहाँ पर उसकी बात करना ठीक न होगा क्योंकि हमें रेल की खिड़की से बाहर ही देखना है और भीतर देखने का मौका भी नहीं है। तो इस वक्त तो इस अंधेरे में रेल की खिड़की के बाहर धूमिल चाँदनी में लिपटा अनन्त शून्य है, कहीं पर दो चार दिये टिमटिमा रहे हैं और न जाने कितने सियार हुआँ-हुआँ कर रहे हैं............

और कल जब चाँद की संदली उँगलियों की जगह सूरज अपनी जलती हुई उँगलियों से इन खेतों और बस्तियों को छुएगा, तब एक नयी ही तसवीर होगी। रेल की लाइन के दोनों ओर मीलों तक फैले चटियल मैदान, जिनकी छाती चीरने में हल के फाल मुड़-मुड़ जाते हैं, जो इस वक्त इतने प्यासे हैं कि अगस्त्य मुनि की तरह समन्दर को गटागट सोख जा सकते हैं, मारे गर्मी के जिनके सीने से धुँआ उठ रहा है। वह देखो बगूला उठ रहा है, काँपता हुआ, पानी की बहुत पतली चादर की तरह झिलमिल करता हुआ। लू से पनाह माँगते हुए पेड़ अपनी ही हरियाली के पीछे छिप रहे हैं। लू और घाम के मारे हुए चुचके-चुचके आमों को लड़के ललचायी आँखों से देख रहे हैं और उन पर ढेलेबाज़ी कर रहे हैं। इन लड़कों पर न लू का असर है और न घाम का और कभी-कभी तो सचमुच ऐसा लगता है कि जैसे सब इन्हीं गरम-गरम हवाओं की कोख से जन्मे हों....तकलीफ़ों की

आग में तपे हुए, काली ईंटों की तरह काले....दूर किसी घने पेड़ की छाया में लड़के शायद गोली या कोड़ना खेल रहे हैं, कुछ गायें और भैसें ऊँघ रही हैं, अपनी दरकी हुई छाती लिये प्यासी धरती मेघ के लिए रंभा रही है और वह दुबला, तांत जैसा चीमड़, यूपियन किसान निर्लज्ज नीले आकाश को देख-देखकर झुंझला रहा है—अब की फिर देरी हो रही है। और चार छः रोज पानी न गिरा तो ऐसा अकाल पड़ेगा—आग लग गई है हमारे भाग में....

इतना तक तो रेल की खिड़की से दिखाई देता है, इसके बाद तो बस रेलगाड़ी के जलते हुए डब्बे की तरह ही यह ज़िन्दगी है, वैसी ही छोटी सी, वैसी ही अलग-अलग खानों में बँटी हुई, वैसी ही तपती हुई....

सावनी समाँ

—बाबू साहब, तीन पोसकार्ट और एक लिफाफा दे दीजिए।

—मुंशी जी, इकन्नीवाला रसीदी टिकट है?

—हुजूर, एक मनीआडर भेजै का रहा....

—वेल बाबू, न्यूज़ीलैंड का चिठी पर कितने का टिकट लगाने होगा?

—थोड़ी देर तो हो गयी है, मगर रुपये जरा जरूरी निकालने थे। बड़ी मेहरबानी होगी, साहब।

—बाबूजी, तनी ईका तउल देंय, केत्ता का टिकस लगी।

काउंटर के उस पार हर वक्त नये-नये लोगों के चेहरे, डाकघर की चटक पीले रंग से भद्दी पुती हुई, दो-चार जगह से दरकी हुई दीवारें, एक बड़ी-सी आलमारी, दो-तीन रैक, दो-तीन छोटी-छोटी मेज़ें, कोने में एक लोटा, एक काफी पुरानी सुराही, जिस पर हरी-हरी काई की आध इंच मोटी तह जमी हुई है और पास ही तामचीनी का एक मग्गा, चिट्ठियाँ और छोटे पैकेट तौलने के लिए एक छोटा-सा बैलेंस, जो मेज पर रखा है और बड़े-बड़े पैकेट तौलने के लिए एक बड़ी-सी तराज़ू मय बटखरे के, जो जमीन पर रखी है, दूसरीवाली छोटी मेज पर टीन के एक डब्बे में आग का एक नन्हा-सा गोला, जिसकी जरूरत थैले सील करते वक्त पड़ती है। आलमारी, रैक, मेज,

स्टूल, सब जगह सफेद और बादामी फारम बिखरे हुए, ठँसे हुए। दीवारों पर डाकखाने की तमाम नोटिसें और एकाध पोस्टर....चन्द्रिका की यही समूची दुनिया है, पिछले दस साल से। सवेरे दस बजे से लेकर शाम पाँच बजे तक उसे सर उठाने की फ़ुर्सत नहीं मिलती। डाकखाने के भीतर कहीं कोई हरियाली नहीं है, जो कुछ है वह बादामी है या मटमैला है। हरियाली के लिए उसका जी बहुत चाहता है, तो वह बाहर नजर दौड़ा लेता है, जहाँ इमली और नीम के पेड़ हैं और घास का एक छोटा मैदान है, जिसपर अक्सर गधे या कभी-कभी एकाध निहायत मरियल घोड़ा चरता रहता है।

मगर इस थकान और उकताहट में भी आदमी रस खोज ही लेता है, वैसे ही जैसे पथरीली चट्टानों में भी वनस्पति उगते ही हैं।

हल्के फ़ालसई रंग की रेशमी साड़ी पहने वह स्त्री जैसे ही खिड़की से हटी, वैसे ही चन्द्रिका ने अपने साथवाले बंगाली बाबू से कहा—मधुमय बाबू, आपने देखा इन मेम साहब को....

मधुमय बाबू ने कहा—मिसेज बैनर्जी। इनके पति आर्मी में हैं। बैरिस्टर आशु बैनर्जी इनके ससुर हैं....

तभी किसी ने दुअन्नीवाले चार टिकट माँगे।

चन्द्रिका ने उसको टिकट देते हुए कहा—तुम्हें तो यार, इनके बारे में सभी-कुछ मालूम है मगर कहो, दोस्त, है न चीज़? मैं तो हैरान हूँ, इसकी मिट्टी पता नहीं कैसी है! पाँच साल से तो मैं इसको देख रहा हूँ....बाल-बराबर भी जो फर्क आया हो।....तुम क्या समझते हो, मधुमय, इसकी उम्र कितनी होगी?

मधुमय हँस पड़ा और बोला—मेरा कहना मानो चन्द्रिका, उस फेर में मत पड़ो। पागल हो जाओगे। बाप रे बाप, इन आधुनिकाओं की उम्र जानना चाहते हो? जिनकी उम्र साल बीतने पर साल भर कम हो जाती है! पाउडर और क्रीम की इक्कीस परतों और सबसे नये

फैशन की न्यू लुक ब्रासियेर के भीतर छिपा हुआ उनके शरीर का अनावृत सत्य जानना ऐसा सहज है क्या ? ओ रे बाबा, वह तो अनु-सन्धान का विषय है।

मधुमय के चाचा दिल्ली में हैं। अभी कुछ ही रोज हुए वह दिल्ली होकर आया है। उसको चुलबुली छूट रही थी कि चन्द्रिका को भी उसके बारे में बतलाये। अपनी बात की रौ में बोला—तुम कभी दिल्ली गये हो, चन्द्रिका ? नहीं गये ? तभी ! एक बार दिल्ली हो आओ, तो आँखें खुल जायँ। बस, शाम को जाकर कनाट प्लेस पर खड़े हो जाओ....कैसी-कैसी आकर्षक सुन्दरियाँ, कैसे-कैसे अनूठे वेश, कैसी-कैसी सुघर पादुकाएँ, कैसे-कैसे अपरूप वैनिटी बैग....लगता है, जैसे शाम होते ही सभी अप्सराएँ अपने-अपने विमान पर चढ़कर स्वर्ग-लोक से हमारे इस मृत्युलोक में उतर आती हों और इन्द्र का अखाड़ा अब यहीं जुटने लगा हो ! ओ रे बाबा, जत शब आधुनिक मेये, उनका वयस जानना चाहते हो, सो तो विरंचि को भी नहीं मालूम !

चन्द्रिका का भी तो बोलने को जी चाह रहा था। अपनी कैंची सिगरेट सुलगाते हुए बोला—तुम तो यार, बिलकुल ग्रामोफोन हो, मधुमय....तुम्हारी ये मिसेज बैनर्जी तीस से हरगिज़ कम न होंगी....

मधुमय ने जैसे थोड़ा खीझकर कहा—अरे, होगी भी, यार ! वह तीस की नहीं, सोलह की भी हो तो अपने को क्या !

यह तीन बजे के बाद का समय डाकखानेवालों के लिए निस्बतन् फ़ुर्सत का होता है, क्योंकि रजिस्टर्री, मनीआर्डर, सेविंग बैंक, सबका काम खत्म हो चुकता है और बस टिकट लिफाफों की बिक्री बच जाती है, और बच जाता है हिसाब-किताब, सील-मुहर का काम।

चन्द्रिका ने सिगरेट का एक लम्बा कश लेते हुए कहा—तुम तो यार, हर बात को बस अपनी उसी एक ही नाली में घसीट ले जाते हो !

मेरे कहने का मतलब था कि आखिर इस चीज का भेद क्या है? जानना तो चाहिए।

और सबसे दर्दनाक बात तो यह थी कि चन्द्रिका की अपनी जिन्दगी में इसका जवाब मौजूद था! इसलिए तो जब वह शाम को घर चला, तो उसके लटके हुए रूखे चेहरे पर एक पहाड़ का बोझ था....मरी हुई उमंगें, पाँच बच्चे, तेजी से ढलती हुई नीम-बीमार बीवी, रोज-रोज के घरेलू झगड़े और दिन भर की उबा देनेवाली मेहनत के बाद अब पैसों की फिक्र। मकान का किराया तीन महीने का तिरसठ रुपये चढ़ गया था और मकान-मालिक तकाजों-पर-तकाजे भेज रहा था। मनोहर से छः महीने पहले इसी बिरजू के जनम पर पैंतालिस रुपये लिये थे। वे आज तक नहीं दिये जा सके। वह भी कई बार कह चुका है और कहना ही था, उसकी ही ऐसी कौन-सी कमाई धरी है। शकुन्तला को किसी लेडी डाक्टर को दिखलाना है, उसकी तन्दुरुस्ती बराबर चौपट ही होती चली जा रही है। इस तरह नहीं चलेगा। कुछ करना ही होगा। मैं तो देख रहा हूँ शकुन्तला अब वह पहलेवाली शकुन्तला रही ही नहीं।

उसका घर अभी दूर था और गो कि उसकी पुरानी, खटारा साइकिल हस्बमामूल बहुत भारी चल रही थी, मगर तो भी इस सावनी समाँ में उसका मन उड़ने लगा। काली-काली घटाएँ घिरी हुई थीं, मगर हवा भी चल रही थी, जो इस बात का लक्षण थी कि पानी अभी तत्काल नहीं गिरने जा रहा है। बदन में हवा की ठंडी-ठंडी फुरहरी लग रही थी और गोकि सीने पर फिक्रों का बोझ था और पिंडलियों पर साइकिल का, मगर तब भी, आदमी की बेहया ज़ात, चन्द्रिका इस वक्त काफ़ी खुश था। वह सोचने लगा अपनी पहलेवाली शकुन्तला के बारे में और मिसेज़ बैनर्जी के बारे में और मधुमय की दिल्ली-वार्ता के बारे में....

—इन औरतों में बनाव-सिङ्गार ही खास चीज़ होती है। अपना कुछ नहीं होता। गुलाबी-गुलाबी पाउडर से नहा लेने की बात और है कि लिया और पोत लिया, वर्ना एक मेरी यही शकुन्तला थी........सेब का-सा रङ्ग, खून तो जैसे छलछलाया पड़ता था और खाल ऐसी चिकनी, ऐसी मुलायम कि जैसे पैदाइश के रोज़ से ही घर का नैनू मला जाता रहा हो। अंग अंग साँचे में ढला हुआ, स्वास्थ्य और यौवन की प्रतिमा थी शकुन्तला, गाँव की तन्दुरुस्त मज़बूत लड़की.... और चन्द्रिका को वे बहारें याद आयीं, जो उसने शकुन्तला के संग लूटी थीं।........कितने सुख के दिन थे वे, मगर कितने थोड़े! तब तो तन्ख्वाह भी आज से काफ़ी कम मिलती थी और कमरा भी हमारे पास एक ही था, मगर तब बस हमीं दो थे भी तो, एक से ज्यादा कमरे लेकर करते भी क्या....माँजी उन दिनों गाँव पर रहती थीं। सचमुच कितने मज़े के दिन थे! उन थोड़े से पैसों में और ज़रा-से कमरे में हम इतने मज़े में गुज़र कर लेते थे कि आज सोचता हूँ, तो हैरान रह जाता हूँ। आखिर यह कैसी नहूसत हमारे ऊपर आ गयी है कि पैसे में बरकत ही नहीं रही? मकान का किराया देना है, मनोहर के पैसे लौटाने हैं, शकुन्तला को डाक्टर के पास ले जाना है........दो-पैसा बचाने की कौन कहे, हमेशा क़र्ज़ ही चढ़ा रहता है और जो पिसाई की बात कहो, तो पिसाई भरपूर........और नहीं तो एक दिन वे थे, ज़िन्दगी का रङ्ग ही तब कुछ और था। मैं शाम को जब लौटता था, तो शकुन्तला साफ़-साफ़ कपड़े पहनकर, कंघी-चंघी करके, नाश्ते के लिए पकौड़ी या गुलगुले या मुरमुरे और चाय तैयार करके बैठी मेरी राह तका करती थी। और अब........

घर जैसे-जैसे पास आता जा रहा था, वैसे-वैसे उसके चिन्तन में रोमान का रंग फीका और यथार्थ का रङ्ग गहरा होता चला जा रहा

था। तब तक बूँदें गिरना शुरू हो गयी थीं और चन्द्रिका ने तेज़ी से पैडल मारना शुरू किया।

गली में घर के सामने पहुँचते ही सबसे पहले उसको रमेश मिला। पानी बरस रहा था, मगर वह पास ही बक़रीदी के टट्टर के नीचे गोली खेल रहा था। गोली नाली में चली गई थी, उसी को निकाल रहा था। उसको देखते ही चन्द्रिका के दिमाग का पारा गरम हुआ, मगर उसने जब्त किया और बोला—छीः-छीः, क्या चमारों की तरह नाली में से गोली बीनते रहते हो! चलो घर के अन्दर........

और रमेश लपककर घर के अन्दर। पीछे-पीछे चन्द्रिका बाबू। मगर अभी उन्होंने देहली डाँकी भी न थी कि एक चप्पल आकर चटाक् से उनके गाल पर लगी। वास्तव में यह कोई उनके स्वागत का आयोजन न था। पता नहीं, किस बात को लेकर सुरेश और दिनेश में झगड़ा हो गया। बढ़ते-बढ़ते झगड़े ने महाभारत का रूप ले लिया। दोनों वीर एक-दूसरे से गुँथ गये। सुरेश ने दिनेश के बाल उखाड़ लिये, दिनेश ने अपने बड़े-बड़े नाखूनों से सुरेश का मुँह इस बुरी तरह खर-बोटा कि खून निकल आया। सुरेश दिनेश से डेढ़-दो साल बड़ा था, मगर तो भी भाग निकला। दिनेश ने पास ही पड़ी हुई किसी की चप्पल उठाकर पूरी ताकत से सुरेश पर चलायी और बलुए में एक गाली भी फेंक दी, जो उसने गली के वाचस्पतियों से सीखी थी—हरामी का पिल्ला........

यही चप्पल किंचित् लक्ष्य-भ्रष्ट होकर उस हरामी के गाल पर आकर बैठी, जिसके पिल्ले वे दोनों थे।

चन्द्रिका बाबू को अपना यह विलक्षण स्वागत कुछ पसन्द नहीं आया। यह यथार्थ की क्रूर भूमि थी। स्वप्नों का इन्द्रजाल अब कहाँ। अब तो यह घर था, जहाँ बस शासन के दण्ड की मान्यता है। उन्होंने साइकिल दीवार से टिकायी, कोने में रखी हुई छड़ी उठाई, जो उन्हें

एक मित्र ने किसी दूसरे ही उपयोग के लिए रानीखेत से लाकर दी थी और अचल मेघमंद्र स्वर में पुकारकर कहा—सुरेश....दिनेश....

दोनों अभियुक्त सामने आकर खड़े हुए और चन्द्रिका ने बिना एक शब्द मुँह से बोले सड़ाक्-सड़ाक् उन्हें पीटना शुरू कर दिया। पीट रहे थे और रामनाम की तरह जप रहे थे—मेरा गुस्सा बहुत बुरा है....कहे देता हूँ, मेरा गुस्सा बहुत बुरा है....हड्डी-पसली तोड़कर रख दूँगा....

लड़के हाथ बचाते थे, तो पैर पर छड़ी पड़ती थी, पैर बचाते, तो पीठ पर पड़ती थी। कोई जानवर को भी इतनी बेदर्दी से क्या पीटेगा। लड़के दर्द के मारे चीख रहे थे, मगर चन्द्रिका की आँखों में करुणा न थी। आखिरकार बच्चों की चीख-पुकार सुनकर उनकी माँ पानी से बचने के लिए सिर पर सूप रखे चौके में से भागती हुई आयी और झपटकर दोनों बच्चों को अपने अँकवार में लेती हुई बोली—अरे-अरे, बस भी करो! मार ही डालोगे क्या?

शकुन्तला की बात से चन्द्रिका बाबू का गुस्सा और भी भड़क उठा। चीखकर बोले—हाँ, मार डालूँगा, मार डालूँगा अगर ठीक नहीं होंगे हरामज़ादे....घर नहीं हुआ, जहन्नुम हो गया!

और फिर उसी बिफरी हुई हालत में शकुन्तला पर बरस पड़े—तुमसे हज़ार बार कहा होगा मैंने कि मुझे घर में शोर-गुल, मार-पीट बिलकुल पसंद नहीं है। दिन भर का थका-माँदा....क्या मुझे अपने घर में भी शान्ति नहीं मिलेगी? इस तरह तो मैं पागल हो जाऊँगा....

शकुन्तला ने कहा—तुमसे पहले तो मैं पागल हो जाऊँगी। मुझे तो दिन-भर इसी चीज़ का सामना करना पड़ता है....

मगर कटोरी के बराबर तो घर, क्या करे शकुन्तला और क्या करे दुष्यन्त।

बस एक बड़ा कमरा था उस घर में, जिसमें सब घुसपिलकर रहते थे, और दो कोठरियाँ, जिनमें से एक माँजी की थी, उनकी पूजा की कोठरी, जिसमें वह अपनी रामायण की पोथी और सीता-राम-लक्ष्मण की एक मूर्ति और पूजा की घन्टी और आचमनी इत्यादि के समेत रहती थीं। और जो दूसरी कोठरी थी, उसको चन्द्रिका बाबू अपने पढ़ने और दोस्तों से मिलने का कमरा कहते थे, मगर असल में उसका उपयोग कुछ और ही था।

अब ऐसी हालत में हो तो क्या हो।

चन्द्रिका को बच्चों का गली में, नीच जात के लड़कों के संग खेलना भी नागवार था और घर में शोर का मचना भी। बड़ी मुश्किल की बात थी। बहरहाल इस वक्त तो छड़ी के निर्द्वन्द्व प्रयोग से घर में शान्ति स्थापित हो गयी। बस, दोनों लड़कों का सिसकना सुनाई देता रहा।

चन्द्रिका ने अब इतमीनान से कपड़े उतारे, हाथ पैर धोये और नाश्ते का इन्तजार करने लगा। मगर अब वह शकुन्तला के बारे में नहीं सोच रहा था, न आज की, न कभी की, वह सोच रहा था मिसेज़ बैनर्जी के बारे में, उनके यौवन और स्वास्थ्य और जीवनोल्लास के बारे में, और उनके एक अकेले लड़के के बारे में, जिसका पिता आर्मी में है और जिसके दादा बैरिस्टर आशु बैनर्जी हैं।

नाश्ते में आज बड़ी देर हो रही थी। सूखी साखी एक प्याली चाय भी अगर मिल जाती तो मन को थोड़ा ढाढ़स होता। मगर वह भी नहीं। उसका मन यों ही खिन्न था, अब खीझ आने लगी। उसने झल्लाकर आवाज़ दी—शकुन्तला....

पानी अब भी बराबर गिर रहा था। उसकी पटर-पटर के ऊपर से शकुन्तला की आवाज़ चौके में से आयी—आती हूँ....

और उसके भी पाँच मिनट बाद शकुन्तला पाँच-सात टेढ़ी-मेढ़ी

मठरियाँ और एक प्याली में चाय लेकर उपस्थित हुई, मैली-कुचैली, गत-यौवना, वदन से प्याज़ और पसीने की दुर्गन्ध छूटती हुई....

चन्द्रिका को बड़ी ग्लानि हुई। उसने प्याली मुँह से लगायी और ज़ोर से सारी चाय आंगन में फेंक दी और बहुत चिड़चिड़ाकर बोला—तुमको हो क्या गया है, शकुन्तला, एक प्याली गरम चाय भी तुम नहीं दे सकतीं!

चाय सचमुच एकदम ठंडी थी। शकुन्तला के काटो तो बदन में खून नहीं, अन्दर की साँस अन्दर, बाहर की साँस बाहर। अपराधी भाव से खड़ी रही। उसका दिमाग बर्रे का छत्ता था और उसमें बस एक यही बात भन्ना रही थी—इन्होंने मेरी चाय फेंक दी........इन्होंने मेरी चाय फेंक दी........

उसका चेहरा इतना कातर, इतना करुण हो रहा था कि पत्थर भी एक बार पसीज जाता, मगर चन्द्रिका था कि उसे घूरे जा रहा था।

अब शकुन्तला जवाब दे भी तो क्या दे। इनको तो मालूम है कि मुझे ज्वर रहता है। इधर महीनों से शरीर ठीक नहीं है और फिर मेरा मन भी तो किसी दिन ख़राब रह सकता है? रोज़ तो इसी शरीर को लेकर सब-कुछ करती हूँ किससे फरियाद करने जाती हूँ।

और उसने कोई जवाब नहीं दिया, वैसे ही अपराधी की मुद्रा में खड़ी रही।

बात असल में यह थी कि आज उसने पहले अकेली चाय बना ली थी। शरीर तो जैसे महीनों से निढाल था ही, मन भी इधर कई रोज से निढाल था। उसके पैर शायद फिर भारी हो गये थे। उसी के बारे में एक पड़ोसिन से कुछ पूछने गयी थी। लौटने में थोड़ी देर हो गयी। उस पर से घर में यह हंगामा हो गया। मन एकदम खराब हो गया। देर योंही हो गयी थी और फिर बरसात में जल्दी ही खा

भी लेना चाहिए, नहीं तो कीड़े-मकोड़े बहुत तंग करते हैं। चाय बनाकर दिये आती हूँ। रोटी पका ही रही हूँ। जल्दी ही सब लोग खा-पी लेंगे, छुट्टी हो जायेगी। यह सोचकर उसने एक प्याली चाय बना ली, मगर फिर उसे खयाल आया कि आज इनको योंही बहुत गुस्सा चढ़ा हुआ है, अकेली चाय लेकर जाना ठीक नहीं होगा। लिहाजा उसने मन और शरीर की उस टूटी हुई हालत में आटा साना और मठरियाँ....और इसी बीच चाय ठंडी हो गयी और इस बात का खयाल भी नहीं रहा, वर्ना दो मिनट के लिए आग पर रखने की तो बात थी।

अब वह कैसे इतना सारा पुराण गाये, लिहाज़ा बस चुप थी। एक चुप हजार चुप। क्लांत, खिन्न, कातर।

उधर माँजी जो लड़कोंवाले उस समूचे महाभारत में एकदम निर्विकार, निर्वेदयुक्त भाव से अपनी उपासना में लीन मौन रही आयी थीं, अब इस समय मौन न रह सकीं। यह उनके मौन रहने का समय न था, और वह अपनी कोठरी में से ही अपने बेटे के सवाल का जवाब देते हुए बोलीं—अरे, किसी का दीदा भी तो काम में लगे। घर तो जैसे काटता है। रानी जी से ज़रा पूछो दिन भर कहाँ रहीं और कब लौटकर घर आयी हैं।

शकुंतला के शरीर में आग लग गयी। तड़पकर बोली—दिनभर इसी घर में तो होम होती रहती हूँ, आज घंटे भर को नीलू की अम्मां के पास चली गयी, तो आप ऐसी-वैसी बात कहने लगीं।

माँजी अपनी कोठरी में से बाहर समर-भूमि में आ गयीं और अपने स्वर में रण-हुंकार भरकर बोलीं—तू देखता है, चन्दर, यह मुझसे कैसे बात कर रही है, जैसे कच्चा ही चबा जायेगी। घंटा भर! मुझे जैसे पता न हो।....दिन भर का थका-माँदा आदमी घर आये और उसे एक प्याली चाय भी ढंग की न मिले। ठहर, चन्दर, मैं तेरे लिए

चाय बनाकर लाती हूँ। मेरा पौरुख अभी चलता है।—कहती हुई माँजी बड़े स्नेहाडंबर से चौके की ओर चलीं।

माँजी के शब्दों ने चन्द्रिका की बुझती हुई क्रोधाग्नि पर घी का काम किया और चन्द्रिका ने अपनी उस दिमाग़ी वहशत में आव देखा न ताव, कसकर एक थप्पड़ शकुन्तला के बुखार-से जलते हुए गाल पर रसीद कर दिया और तेज़ी से घर के बाहर हो गया।

माँजी ने चन्दर को घर से बाहर जाते देखा, तो संतुष्ट होकर वह भी अपनी कोठरी में चली गयीं और पुनः राम की उपासना में लीन हो गयीं।

शकुन्तला ने जाकर चूल्हे में पानी डाल दिया और आकर बिस्तर में पड़ रही और तकिये में मुँह गाड़कर फफक-फफककर निश्शब्द रोने लगी। और न जाने कब तक रोती रही।

घर का स्वामी बाहर था, सहमे हुए बच्चे भूखे पेट सो गये थे, माँजी की कोठरी से बुदबुदाने की आवाज़ आ रही थी, मगर कहना मुश्किल था कि वह गोसाईंजी की रामायण की चौपाइयाँ थीं या उनकी अपनी रामायण की!

बाहर पानी तड़-तड़-तड़-तड़ गिर रहा था, बिजली कड़क रही थी, बादल गड़गड़ा रहे थे, काली-काली घटाएँ छायी हुई थीं, पूरा सावनी समाँ था और पिया घर न था और गोरी की आँखों में नींद न थी और जलते हुए आँसू टपटप उसकी आँखों से टपक रहे थे और वह जलती हुई सूनी सेज पर लेटी अपने बांयें गाल को हथेली से दबाये अँधेरे में निर्निमेष शून्य को ताक रही थी और पूरे वक्त किन्हीं भूले-बिसरे लोकगीतों की कुछ कड़ियाँ उसके कानों में बज रही थीं, जो कभी, न जाने किस कल्प में, गाँव की सब बिन-ब्याही और हाल की ब्याही लड़कियाँ झूले की पेंग बढ़ा-बढ़ाकर गाया करती थीं।

और उन मीठे, रसीले, नीम और महुए की भारी गंध से उन्मद

लोकगीतों के संग ही शकुन्तला को अनायास उस अहीर की छोरी मरजदिया की याद आयी, गोरी-चिट्टी, लंबो, मज़बूत मरजदिया, जिसकी ठोढ़ी पर गोदने की हरी-हरी बिन्दी थी, जो उन सबमें सबसे ढीठ, सबसे गरबीली, सबसे अल्हड़ और सबसे कड़ककर गानेवाली थी, जिसने न जाने किस बात को लेकर पति के संग तकरार हो जाने पर भोंथे हँसिये से अपना गला काट लिया था।

डाक मुंशी की एक शाम

कमर टूट जाती है....मेज़ पर झुके-झुके....सुबह से शाम तक....जैसे तेली का बैल....मगर तब भी तो किसी का मुंह सीधा नहीं होता.... त्योरियाँ चढ़ी ही रहती हैं हमेशा....कोई कलेजा ही निकाल कर क्यों न रख दे....आज वह किस सड़ी-सी बात पर बड़े साहब ने सबके सामने मुझको....चपरासी को भी इस बुरी तरह से कोई क्या झिड़केगा....ग़लती तो हुई....मैं कब कहता हूँ कि ग़लती मुझसे नहीं हुई....तो फिर शिकायत किस बात की....ग़लती करोगे तो डांट खाओगे....जो ग़लती करेगा वह डांट खायेगा....यह तो उसूल की बात है....समझता हूँ....अब भी नहीं समझूँगा....तेईस साल हो गये इसी चक्की में जुते-जुते....खूब समझता हूँ इसके अदब क़ायदे....मगर तो भी किसी-किसी दिन....किसी दिन भी क्यों ?....नहीं नहीं नहीं....उदास होने का हक़ भी सबको नहीं है....कभी एक शेर पढ़ा था....क्या शेर था....दिल ही तो है....दिल ही तो है....हाँ....

दिल ही तो है न संग ओ खिश्त, दर्द से भर न आये क्यों
रोयेंगे हम हज़ार बार, कोई हमें सताये क्यों....

(गुनगुनाता है)

झूठ है....बिलकुल झूठ है....हमारा दिल ईंट पत्थर है हाँ ईंट पत्थर....उसको क्या हक़ कि वह दर्द से भर आये....क्यों भर आये ?

सही बात है....क्योंकि अगर उसको यह हक़ होता तो इस दर्द की एक धुंधली सी लकीर उन्होंने भी मेरी आँखों में पढ़ी होती....और कम-से-कम एक बार सोचा होता कि आज क्यों इस आदमी से ग़लती हुई जो कभी ग़लती नहीं करता....मगर किसे पड़ी है....किसके पास इतना फ़ालतू वक़्त है....इसी तरह दुनिया का कारोबार चलता है....मुझे कोई गिला नहीं है....कोई गिला नहीं है....किशन की अम्माँ....अरे ओ किशन की अम्माँ....मैं आ गया भाई....तुम सब हो कहाँ....सामने का दरवाज़ा खुला हुआ है और कहीं किसी का पता नहीं....भगवान् जाने सब कहाँ अपने-अपने बिल में छिपे रहते हैं....इसी कटोरी बराबर घर में....किशन की अम्माँ ऽ ऽ ऽ ऽ.......चलो तुम आयीं तो....मैं तो समझा सबको एक साथ साँप सूँघ गया....मगर यह क्या....तुमने मुँह क्यों लटका रक्खा है....ग़लत बात है....बिलकुल ग़लत बात है....मैं तो यों ही दिन भर का थका-मांदा....और फिर तुम्हारा यह तीवड़े जैसा मुंह....एक आँख नहीं भाता मुझे....समझीं....एक आँख नहीं भाता....मगर सुनूँ भी तो हुआ क्या? बहू ने आज फिर कोई नया फ़साद खड़ा किया?....मुन्नी का मुंह नोच लिया? कब?....हे भगवान्, मार डालेगा यह बहू हमको....पागल कर देगी....पागल कर देगी किशन की अम्मां....पता नहीं ये कब के पाप निकल रहे हैं....और यह कृष्ण-मुरारी! लुच्चा कहीं का।....हमसे क्या अदावत थी उसको....क्या नहीं कहा उसने....लड़की ऐसी है वैसी है....बड़ी गुणवती है....सुशीला है....और लाकर एक पागल को हमारे गले बाँध दिया....बड़े सगे बनते थे। अब शकल नहीं दिखायी देती।....पूछिए हमको क्या मालूम था वर्ना हम क्यों जाते अपनी सांसत करवाने....हमने तो समझा कृष्णमुरारी बाबू इतनी तारीफ़ कर रहे हैं तो लड़की ठीक ही होगी.... वर्ना दुनिया में क्या लड़कियों की कमी थी....बला से चार छः सौ कम देते मगर वह लड़की तो अच्छी थी....रामसुन्दर की....सांवली थी तो

क्या हुआ....अब चाटो इस गोरी को लेकर....हरदम जी धुकुर-पुकुर किया करता है....कब कौन-सी नयी आफ़त खड़ी हो जाय....मुन्नी को ज़रा बुलाओ तो....पूछूं बात क्या थी....सो गयी है ?....बेचारी नन्ही-सी जान और वह पहाड़-सी औरत....(विराम) तुम क्या....किस बुरी तरह बकोटा है....किस बुरी तरह....पाँचों नाखूनों की लकीर खिंच गयी है....डाइन कहीं की....नहीं....नहीं....अब बात....अब और नहीं सह सकता मैं....मैं आज ही बाबू गुरसहाय को लिखूँगा....आकर लिवा ले जायँ अपनी लाड़ली को....बाज़ आये हम ऐसी बहू से....राक्षसी है राक्षसी.... किस बुरी तरह बकोटा है....तमाम खून उछल आया है....मैं तो कहता हूँ किशन की अम्मां, किसी दिन वह घर में आग न लगा दे....खुद ही न जल मरे कहीं....अरे क्या ठिकाना पागल आदमी का....किसी रोज़ छत से ही जो कूद पड़े....तो फिर बँधे-बँधे घूमो और दुनिया भर में डुग्गी पिटे....कालिन्दी बाबू की बहू जल मरी....कालिन्दी बाबू की बहू छत से कूद पड़ी....उफ़, यह कहाँ की बला गले लगी....मैं तो पागल हो जाऊँगा....रमुआ....रमुआ झूठ कहता है....रमुआ बदतमीज़ है....मैंने कभी रुपये के लालच से शादी नहीं की....हरगिज़ नहीं की....मुझे कुछ भी नहीं मालूम था....कृष्णमुरारी ने मुझको धोखा दिया....शर्म भी नहीं आयी रमुआ को मुझसे ऐसी बात कहते.... कहता है मुझको इस शादी से कोई मतलब नहीं....रुपये आपने लिये आप जानें....रामू....रामू....पागल हो गये हो ? रामू इस वक्त यहाँ होगा ? यह तो सैर-सपाटे का वक्त है....कहीं मटरगश्ती कर रहा होगा....पाप तो मैंने किया है....दिन भर खच्चर की तरह जुता रहा हूँ और अब यह....तुम तो जानती हो किशन की अम्मां, मैंने कितना चाहा, हर तरफ़ काट-कपट की, ताकि यह मरदूद पढ़ जाये....मगर बदज़ात बी० ए० न हो सका....न हो सका....न हो सका....आवारागर्दी से किसी को छुट्टी मिले तब तो....बी० ए० हो गया होता तो जैसे-तैसे, कह सुन

कर मैंने उसे डाकखाने में कहीं लगवा दिया होता....चार पैसे का सहारा होता....सहारा भाड़ में जाय, लोग अपना बोझ उठा लें यही बहुत है, कि झूठ कहता हूँ किशन की अम्मां ?....ऐसी नालायक औलाद....मगर नहीं....नहीं....किशन बहुत अच्छा लड़का था.... सबका बहुत खयाल रखता था....और मैंने उसे घर से निकाल दिया.... नहीं नहीं....मैंने नहीं निकाला....मुझे उस रोज़ गुस्सा आ गया था सही लेकिन मैंने किशन से कुछ खास कहा नहीं....वही चला गया.... अपने मन से चला गया....और हाँ, तुम्हें बताना भूल ही गया....आज उसका खत आया है....खुश है। कलकत्ते में है। एक होटल में रकाबियाँ धोने का काम पा गया है....बुरा हुआ, क्यों ?....सात पीढ़ी से जिस घर में डाकमुंशी होते आ रहे हैं उस घर का लड़का होटल में रकाबियाँ धोये।....कितनी बुरी बात है। है न ?....बोलो न ? बोलती क्यों नहीं ?....ऐं तुम रो रही हो ? रो क्यों रही हो ? इसमें रोने की क्या बात है ?....माँ का दिल....हिश्ट....किशन की अम्माँ, खूब सोचा है मैंने, खूब सोचा है, कोई किसी को जनम भर आँचल में छुपाकर नहीं रख सकता।....अच्छा हुआ किशन यहाँ से चला गया....बहुत अच्छा हुआ....बहुत अच्छा हुआ....यह पागलखाना उसको भी पीस डालता....

रामकहानी के दो पन्ने

मैं जेल की कोठरी हूँ। मैं नहीं जानती, कब, किस घड़ी में मेरा जनम हुआ, पर इतना जानती हूँ कि वह बहुत अशुभ घड़ी थी। हुआ होगा, मेरे जन्म से भी किसी को सुख हुआ होगा और उसने आतिशा-बाजियाँ छोड़ी होंगी, गुलगुले बँटवाये होंगे, पर मुझे तो कोई सुख नहीं है, मैंने तो आज तक कोई सुख नहीं जाना। सुख है कर्म में। सुख है दूसरे को सुख दे सकने में। मैं कब किसको सुख दे पाती हूँ? कौन मेरे पास आकर सुखी होता है? और मेरा कर्म? वह तो बधिक का कर्म है, क्रूर, अभिशप्त। उसमें कहाँ सुख, कहाँ शान्ति! बधिक सुखी नहीं होता, सबसे पहले उसे अपनी आत्मा का, अपने मनुष्यत्व का बध जो करना पड़ता है। वैसे ही, जैसे मैं, जिसका काम दूसरों को बन्दी बनाकर रखना है, सबसे बड़ी बन्दी तो स्वयं मैं हूँ, अपनी ही चार दीवारों के भीतर बन्द, अपने ही ईंट पत्थर के मलबे के नीचे दबी हुई, न कोई मेरा संगी, न कोई मेरा साथी। अपने दिल का दाग़ मैं किसको दिखलाऊँ? दूसरों के दुख-दर्द की कहानी तो मैं सुनती हूँ, पर मेरे दुख-दर्द की कहानी कौन सुनेगा? मेरे लिए तो बस ये बेजान, बहरी दीवारें हैं, मेरे हाड़-पंजर। कुछ पता नहीं, कब मैं शापमुक्त हो सकूँगी....

कोई मुझे नहीं चाहता, सब मुझसे घृणा करते हैं। यह भी कोई ज़िन्दगी है! लेकिन मौत भी तो मुझे नहीं पूछती।....कभी-कभी मन बहुत उदास हो जाता है। अक्सर नहीं होता। होता क्यों नहीं, यही समझिए कि जीने का एक-न-एक उपाय खोज ही लेना पड़ता है। बाहर की दुनिया को तो मैं यों ही कभी-कभी उझककर देख लेती हूँ, वर्ना मैं हूँ और ये पीली पुती हुई, बोसीदा दीवारें हैं और यह ज़ंग-लगा जंगला है और यह धुँआती हुई लालटेन है, जो रोशनी से ज़्यादा अँधेरा करती है और वह उस कोने पर गौरैया का घोंसला है और कार्निस पर कबूतर गुटुरगूँ कर रहे हैं। यही मेरे हरदम के साथी हैं, और तो सब आते हैं, जाते हैं।

मैं तो एक तरह की सराय हूँ, हरजाई.......जैसे सराय, वैसे ही हरजाई कब यह सोचती है कि कौन उसके पास आया, कौन गया। उसके दरवाज़े, उसकी बाँहें तो सबके लिए हर वक्त यकसाँ खुली रहती हैं। उसकी आँखों में सबके लिए यकसाँ इन्तजार रहता है और यकसाँ समर्पण। मैं भी सुरमा, टिकुली, मिस्सी लगाकर बैठी हुई हरजाई की तरह अपने दरवाज़े खोलकर आगंतुकों की बाट देखती रहती हूँ। अन्तर केवल इतना है कि एक के पास आदमी अपने मन से जाता है और खुशी पाने के लिए जाता है और मेरे पास कोई अपने मन से नहीं आता और खुशी की उम्मीद लेकर नहीं आता। पर तोभी मैं हरजाई हूँ, क्योंकि मैं किसी को नाहीं नहीं कर सकती। मुझको उसका अधिकार नहीं है। कई बार मेरे पास ऐसे लोग आते हैं, जिनको देख-कर मेरा कलेजा मुँह को आता है और मैं चिल्ला पड़ना चाहती हूँ कि तुम यहाँ क्यों आये हो? यह तो मरघट है! तुम तो अभी जवान हो! तुम्हारे सामने तो अभी सारी उम्र पड़ी है! जाओ, तुम्हारी बीबी थाली परोसकर बैठी तुम्हारी राह देख रही होगी, तुम्हारा बच्चा तुमको

घोड़ा बनाकर तुम पर चड्डी गाँठने के लिए बेताब हो रहा होगा! जाओ, भाग जाओ, यह जगह तुम्हारे लिए नहीं है!....

मगर नहीं, मैं किसी से कुछ नहीं कह सकती, क्योंकि मेरे पास ज़बान नहीं है और क्योंकि मैं खुद गुलाम हूँ, हरजाई हूँ। जो मेरे पास आयेगा, उसको मुझे लेना होगा।....इसी लिए मेरे पास चोर भी आते हैं, डाकू भी, हत्यारे भी और ज़िनाकार भी और उस भोले-भाले नौजवान के जैसे लोग भी, जिनको देखकर मेरा कलेजा मसोस उठता है। मेरा बहुत जी होता है कि उनसे बातें करूँ, पूछूँ कि तुम यहाँ क्यों आये हो, तुमने कौन-सा जुर्म किया था, किसकी जेब काटी थी, किसका खून किया था, तुम ऐसे खोये-खोये-से क्यों रहते हो? क्या आँखें खोले-खोले तुम कोई सपना देखते रहते हो? तुम कौन-सा सपना देखते हो? मैं तो कोई सपना नहीं देखती।....मेरा बहुत जी होता है कि मैं कुछ बात करूँ, लेकिन कैसे करूँ? मेरे आँख है, कान है, हृदय भी है, जिसपर काफ़ी मिट्टी जम चुकी है, नहीं है तो बस एक वाणी....इसी लिए मैं सब देखती हूँ मगर शापभ्रष्टा पाषाणी-सी चुप रहती हूँ। मगर यह चुप्पी अब मुझसे सही नहीं जाती। कितनी बार मुझे इतनी घुटन मालूम होती है कि लगता है विस्फोट हो जायगा और ये दीवारें भहरा पड़ेंगी, लेकिन कभी विस्फोट नहीं होता। लगता है, मैं विस्फोट के लिए नहीं बनी हूँ और सच पूछो, तो मुझे उससे मतलब भी क्या। मैं तो नेपथ्य में खड़े होकर वह नाटक देखने के लिए बनी हूँ, जो इन दीवारों के भीतर निरन्तर चलता रहता है।

मैं नेपथ्य में हूँ। कोई मुझे नहीं देखता। पर मैं सबको देखती हूँ।

बाहर आदमी अपने को काफ़ी ढँक-मुँदकर रखता है। साफ़ कपड़े पहनता है, टोपी लगाता है, चुरुट मुंह में दबाकर चलता है, आँखों के भाव को छिपाने के लिए रंगीन शीशे का चश्मा भी लगा लेता है और मन के भाव को छिपाने के लिए बात करता है। मेरे पास आते

ही उसके सारे आवरण झर जाते हैं और मैं उसको अपने असली नंगे आदिम रूप में देखती हूँ। और अब मैं जान गयी हूँ कि आदमी सब जगह आदमी है, कि एक आदमी और दूसरे आदमी में ज़्यादा फर्क नहीं होता, कि आदमी को उसकी मजबूरियों से अलग करके देखना ठीक नहीं होता, कि भले और बुरे की पहचान आसान नहीं होती, कि आदमी अपनी अच्छाई और बुराई के साथ आदमी है........

एक आदमी चोरी करता है, डाका डालता है, खून करता है, कानून उसको सज़ा देता है, दुनिया उसके नाम पर थूकती है।

दूसरा आदमी आराम से रहता है, अच्छा खाता है, अच्छा पहनता है, मोटर में चढ़कर घूमता है। वह चोरी नहीं करता, डाका नहीं डालता, खून नहीं करता और दुनिया उसके गले में हार डालती है, उसके नाम की जयजयकार बोलती है। अच्छी बात है। होना ही चाहिए। पर मैं कभी-कभी सोचती हूँ, सोचने पर मजबूर होती हूँ कि अगर इस सदाचारी पुरुष के पास खाने को न होता, पहनने को न होता और उसका बच्चा बिना दवाई के मर रहा होता, तो वह क्या करता?

तुम कहोगे, ओ हो! यह तो बड़ा कानून बघारने लगी........

ऐसी बात नहीं है। मैं इन सब बातों को कुछ नहीं समझती थी, अब भी नहीं समझती। लेकिन जैसे-जैसे आदमियों के साथ मैं रही हूँ, उनको देखकर कभी-कभी सचमुच मेरे मन में यह बात आती है।

जोखू नाम का एक डाकू एक बार आया था। कई बरस की बात हो गयी। लंबा-तड़ंगा, गोरा रंग, छोटे-छोटे बाल, बड़ी मधुर बोली। वह डाकू था, खूनी था। जेलर उसके नाम से कान पर हाथ धरता था। लेकिन मैं सच कहती हूँ, उससे अच्छा आदमी आज तक मेरे देखने में नहीं आया।

कैसे वह डाकू बना और कैसे उसके हाथ से वह तीन खून हुए, उसकी कहानी बड़ी-लम्बी है, जो एक बार उसने अपने एक साथी को

सुनायी थी और मैंने भी सुनी थी। मैं वह कहानी आपको नहीं सुनाऊगी, बस इतना कहूँगी कि उसको सुनने के बाद उस आदमी की तरफ़ से मेरा दिल साफ़ हो गया। मैं समझती हूँ उन हालतों में शायद कोई भी ग़ैरतमन्द आदमी खून कर बैठता और फिर डकैती के रास्ते पर लग जाता।....जेल में सभी लोग, छोटे-बड़े, उसको बप्पा कहते थे और वह सचमुच सबका बप्पा था। ऐसा हँसमुख, ऐसा दिलेर, ऐसा मुहब्बती कि आपको क्या बतलाऊँ। कभी किसी ने उसको किसी कैदी से झगड़ते नहीं देखा।....मगर तब भी वह खूनी था और डाकू था।

सब झूठ बात है। कौन असल खूनी है और चोर है और डाकू है और कौन नहीं है, इसका फैसला आसान नहीं है। सबका एक-सा इम्तहान हो, तो पता चले। बहुत-सों को इम्तहान देना नहीं पड़ता, सारी ज़िन्दगी नहीं देना पड़ता, तो वह बड़े पाक-साफ रहे आते हैं। लेकिन उनके भीतर जो कुछ माल-मसाला रहता है, उससे कैसे बचेंगे। वह पिटारी तो आकर यहाँ खुलती है। जरूर वह महाशय बाहर, मंच पर खड़े होकर लोगों को त्याग और तपस्या का उपदेश देते होंगे, लेकिन यहाँ उनकी हालत यह थी कि छोटी-से-छोटी चीज़ के लिए वह अपने साथियों से झौं-झौं किया करते थे, प्याज की एक-एक गाँठ के लिए, लेमन की बोतल के लिए, लालटेन के लिए....सच कहती हूँ वह आदमी हर वक्त झौं-झौं किया करता था। उसे सदा अपनी फ़िक्र रहती थी। दूसरे की रत्तीभर परवाह नहीं, कहाँ के साथी कहाँ के क्या। बड़ा फ़ितूरिया आदमी था। किन्हीं दो आदमियों में अगर खूब बनती हो तो यह बात उसको फूटी आँख नहीं सुहाती थी और वह दोनों में लड़ाई लगवाने की जुगत बिठालने लगता था। बहुत बुरा आदमी था। मैंने जोखू को भी बरसों देखा था और इस आदमी को भी देखती थी। मैं नहीं जानती, हो सकता है, इस आदमी के पास

मोटर हो, बँगला हो, सब हो, पर तुम अगर सच पूछ बैठो कि कौन अच्छा आदमी था, तो मैं तो न कह सकूँगी यह आदमी अच्छा है, भले जोखू डाकू हो खूनी हो....हो सकता है, बरसों से डाकुओं और खूनियों के साथ रहते-रहते अब मैं उसकी आदी हो गयी हूँ, लेकिन मैं तो जो देखती हूँ, सच-सच कहूँगी।

लेकिन तुम कहीं मेरी बात का यह अर्थ न लगा लेना कि जो कदर्य है, कुत्सित है, वही सच है। आत्मा का विपुल ऐश्वर्य भी यहाँ देखने को कम नहीं मिलता। मैंने देखा है, नन्हें-नन्हें छोकरों को कि कैसे उनको कोड़े मारे गये हैं, जिसमें वह कुछ कबूल दें, पर किसी ने कुछ नहीं कबूला। मैंने देखा है। मैंने देखा है, कैसी-कैसी भीषण यन्त्रणाएँ कुछ कैदियों को दी गयीं, मगर उनका साहस नहीं टूटा। यह भी मैंने देखा है। कितने-कितने लोग अपना घर बार फूँककर यहाँ आ पड़े हैं, बरसों पड़े रहे हैं, हँसे हैं, रोये हैं, तकिये को आँसुओं से भिगोया है, अपने बच्चे की फोटो को बार-बार चूमा है, उदास हो गये हैं, फिर साथियों के साथ हँसने-खेलने लगे हैं, ताकि वह उदासी जी पर भारी न पड़े....और एक-एक पल को पढ़ने में, लिखने में खर्च किया है, जिसमें मन खुश रहे कि कुछ काम हुआ और हम जिस बात का सपना देख रहे हैं, उसमें एक अंकुर लगा....इसी-इसी तरह उनके दिन बीत जाते हैं....और मेरे भी दिन बीत जाते हैं, बीतते जाते हैं, मेरे यह कड़ुवे-मीठे दिन, जो मीठे कम हैं और कड़वे ज्यादा, मगर शायद सभी चीज़ों का कुछ ऐसा ही मिला-जुला ताना-बाना है, ऐसा ही मिला-जुला कड़वा-मीठा स्वाद है....। अकेलापन किसको नहीं है। मुझको भी है। दोस्त औरों को भी मिल जाते हैं, कभी-कभार मुझको भी मिल जाते हैं, जैसे आज आप मिल गये और आपने न जाने कैसे, किस जादू से, मुझसे ये तमाम बातें कहलवा लीं, जो न जाने कितने दिनों से मेरे भीतर घुमड़ रही थीं....।

चक्रवर्ती : अथ इति

ठाकुर संकटासिंह के यहाँ बधावे बज रहे थे। आज उनके यहाँ लड़के की बरही थी। भगवान के दरबार में जाने कितनी बार उन्होंने अपनी अरदास पहुँचाई तब कहीं आज यह दिन देखने को मिला। ठाकुर साहब की खुशी का ठिकाना न था। छिन में अन्दर जाते, छिन में बाहर आते........

—यह मंगरुआ का बच्चा कहाँ मर गया ? कभी काम के वक्त इसकी शक्ल नहीं दिखाई देती।

—बाजे वालों को खबर करने कौन गया था ? वही दीप बाबू गए होंगे ! पता नहीं कै बात मुँह से निकली होगी और कै बात मूँछ में ही अटककर रह गई होगी ! ऐसे बगलोल आदमी को तुम लोग भेज क्यों देते हो।

—कनछेदी से बारह सौ पत्तलों के लिए कहा था, कामचोर बस सात सौ बना कर लाया। कहने लगा, सरकार, इतने ही पत्ते थे। डांट पड़ी तो घिघियाने लगा। बाकी पत्तलें अपने लड़के के हाथ भेजने को कह गया था। पर अभी तो कहीं दिखाई नहीं देतीं बाकी पत्तलें। यह मंगरुआ कहाँ बिला गया ? भेजो उस को कनछेदी के यहाँ। कान पकड़ कर ले आए बदजात को।

—अभी तक दरवाजे पर बन्दनवार नहीं बँधा ? कौन गया था आम की पत्तियाँ लाने ? चेखुरी ? सब ससुरे सूरतहराम हैं। लोगों का आना भी इक्के-दुक्के शुरू हो गया, बताइए अब नहीं बँधेगा बंदनवार, तो कब बँधेगा ?

—यहाँ छिड़काव किसने किया है ? कहीं मार कीचड़ कर दिया, कहीं बिलकुल सूखा। जरूर यह मातादीन का काम होगा।....हजारे में फुहारा नहीं था ? कहाँ गया फुहारा ? किसने तोड़ा ? रांगे से जुड़वा क्यों नहीं लिया उसको ? काम न करने के बहाने हैं सब।

—पीतल का यह बड़ावाला कंडाल, लगता है, भंडारे में से निकाल कर सीधे यहाँ रख दिया गया है। जियावन बो से काम अब होता-ओता नहीं....ले जाओ इसको। अच्छी तरह से राख से घिसकर यहाँ पर रखो। राख लगा कर जरा मजबूत हाथ से रगड़ दो, तो शीशे की तरह चमकने लगता है, नहीं तो ऐसा लग रहा है कि जैसे किसी गड्ढे में से खन कर निकाला गया हो! इसके पानी से कौन कुल्ला करेगा ? ये लगा क्या है ? इसमें शीरा रखा था क्या ?

—सुपाड़ी भी अब तक काट कर नहीं रखी गई ? मैं कहता था पनवाड़ी को बुला लो। तुम लोगों ने कहा, पनवाड़ी को बुलाकर क्या होगा, घर में ही सब हो जायगा, कालिका की माई सब ठीक कर देंगी। तो अब कहाँ हैं कालिका की माई ? रात से ही उन्हें जर आ रहा है ? अब नहीं तो अब बना। तुम औरतों का काम सदा ऐसा ही होता है। भेजो किसी को लछमन के यहाँ........

ठाकुर संकटासिंह के प्राण सूली पर टंगे थे। बड़ी-बड़ी मनौतियों के बाद अब इस बुढ़ौती में उनके घर में उजियारा हो रहा था, इसकी खुशी भी मन में कम न थी, पर इस भोज को लेकर तो बेचारे की जान सांसत में फँस गई। लोग इक्के-दुक्के आने भी लगे थे और अब तक न जाने कितनी चीजें अधूरी पड़ी थीं। बड़ी बेचैनी मालूम हो रही थी। पितृ-

स्नेह भी थोड़ी देर को मन्द पड़ गया। मन इतना उद्विग्न हो रहा था कि जैसे आँधियों से भरा पतझड़ का आकाश। हृदय की गति तूफान मेल से टक्कर ले रही थी। पैर थिर होकर खड़े न रह पाते थे, अभी यहाँ हैं तो दूसरे क्षण वहाँ। ऐसी छटपटाहट में ये घड़ियाँ बीत रही थीं कि उन्हीं का दिल जानता था।

मगर, इस सबके बाद भी ठाकुर साहब अपने सौभाग्य पर फूले नहीं समा रहे थे। उनके हृदय का कोना-कोना जगमग हो रहा था। कितना पुण्य संचित होता है, तब भगवान यह दिन दिखाता है, कि घर में बेटे की बरही हो रही है और दरवाजे पर नौबत बज रही है और बरा-फुलौड़ी खाने के लिए मेहमान इकट्ठा हो रहे हैं....

ठाकुर संकटासिंह ही नहीं, गाँव वाले भी इस बात को समझ रहे थे कि ऐसा दिन फिर नहीं आने वाला है।

—बड़ा ही मूजी आदमी है ये ठाकुर....

—मूजी? मक्खीचूस कहो, मक्खीचूस....सबेरे-सबेरे शक्ल देख लो तो दिन भर खाने को न मिले।

—कहने को हजरत जमींदार हैं, पर कभी किसी के लिए कानी कौड़ी जेब से नहीं निकलती ....

—हुँह, दूसरे के मुँह का कौर छीन कर न खा जाएँ यही बहुत है ....

—पता नहीं इतना पैसा क्या करेगा? किस दिन के लिए जमा कर रहा है?

—तुम से मतलब? छाती पर बाँध कर सरग ले जायगा....

—सारा काम फोकट में करवाना चाहता है। तभी तो कोई ढंग से करता नहीं। सब आँख बचा कर सरक जाते हैं।

गाँव के ज्योतिषी पं० रामखेलावन पाँडे की राय उन के बारे में अब बदल गई थी, क्योंकि ठाकुर साहब ने उनको सिलिक का दुशाला

भेंट किया था। वैसे काम भी पाँडेजी ने सिलिक का दुशाला पाने का ही किया था, इसमें सन्देह नहीं। उन्होंने ठाकुर साहब के इस नवजात शिशु की कुन्डली बनाई थी और फिर उस कुन्डली को सम्यक् विचार कर निम्नलिखित शब्दों में अपना निर्णय दिया था—

सरकार, आपके घर में चक्रवर्ती का जन्म हुआ है। पिछले चालीस वर्षों में मैंने हजारों कुन्डलियाँ बनाई हैं, बाँची हैं, लेकिन आपके इन चिरंजीव-जैसी एक भी न थी। देखिए न, इस नवें स्थान पर सूर्य कितना बली है। ऐसा किसी कुन्डली में आपको नहीं मिल सकता। मैं तो शपथपूर्वक कह सकता हूँ, मैंने नहीं देखा। तभी तो इतने विश्वास के साथ कह रहा हूँ। अन्यथा, आप ही बताइए, कैसे कहता। सभी ग्रहों का योग कुछ ऐसा मिल गया है कि बस कुछ न पूछिए। आपका बेटा चक्रवर्ती होगा। और अगर मेरी बात झूठ निकल जाए तो खाल खिंचवा कर भुस भर दीजिएगा।

ठाकुर साहब अधेड़ हो चुके थे और पाँडेजी साठ के पेटे में आ चुके थे और शिशु को वयस्क होने में अभी कम-से-कम पचीस बरस की देर थी, इसलिए इतने कठोर दण्ड का विधान करने में कोई खतरा न था। वैसे पाँडेजी ने चक्रवर्तित्व की यह घोषणा पद्मासन में बैठ कर व्यवस्थित चित्त से की थी, इसलिए उसके सच होने में किसी सन्देह की गुंजाइश न थी।

जिस दिन बालक का नामकरण संस्कार हुआ और उसे चक्रवर्ती सिंह की संज्ञा दे दी गई, उस दिन पाँडेजी की भविष्य वाणी पर और भी मुहर लग गई।

इतना ही नहीं, उसकी सचाई भी पहले रोज से ही सामने आने लगी। जो बालक आगे चलकर चक्रवर्ती होगा, उसका उचित सत्कार अभी से नहीं करने से कैसे बनेगा?

जमींदार साहब का बेटा, बुढ़ापे की औलाद, इतना ऊँचा उसका

भविष्य, सात पुश्त पीछे और सात पुश्त आगे तक खानदान का नाम उजागर करेगा, क्यों न उसके ठाट-बाट ऊँचे होते। चार बरस की उम्र तक तो उसे जमीन पर पैर नहीं रखने दिया गया। (कोई चमार-पासी का लड़का था कि मिट्टी में खेलता ?)—या तो पालना या किसी टहलुए की गोद, दिन-दिन भर, यहाँ तक कि बेचारा टहलुआ मारे उकताहट के रुआँसा हो जाता। उसे क्या पता कि उसकी गोद में एक भावी चक्रवर्ती है, जिसकी विजय-दुन्दुभी एक दिन सारे संसार में बजेगी। इसीलिए जब वह अविराम गति से अपनी पिन-पिन लगाए रहता तो उस गरीब टहलुए का जी होता कि उसको लिए-दिए किसी कुएँ में भहरा पड़े, सब बखेड़ा खत्म हो जाय, न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी। मगर अच्छा हुआ कि टहलुए को कभी ऐसा करने का साहस नहीं हुआ वरना जैसा कि अभी हम देखेंगे संसार एक चक्रवर्ती से वंचित रह जाता। लेकिन हाँ, इतना जरूर था कि जब चक्रवर्ती राजकुमार को टहलाते-टहलाते उसकी नाक में दम हो जाता तो वह एकान्त खोज कर और प्राणि मात्र की आँख बचाकर जोर से बालक का कान मसल देता और सर्प की तरह फुफकारकर कहता—ससुरा।

कान मसले जाने से बालक को सम्भवतः (शुद्ध पाठ, स्वभावतः) पीड़ा होती और वह गगनभेदी स्वर में चीत्कार कर उठता, जो कि टहलुए को शुद्ध संगीत की दृष्टि से भी अच्छा मालूम होता क्योंकि स्वर की एकरसता इस प्रकार भंग होती।

चक्रवर्ती राजकुमार जब कुछ और बड़ा हुआ तो मिट्टी से उसका संस्पर्श बचाया न जा सका और वह अपने ही जैसे दूसरे बालकों के संग खेलने लगा। किन्तु इस खेल की परिणति बहुधा कुमार के भों-भों करके रोने में होती—हाँ, वय के साथ अब कुमार के स्वर में पर्याप्त गाम्भीर्य आ गया था। बात यह थी कि कुमार को अपने चक्रवर्तित्व की चेतना प्रतिक्षण रहती थी, जब कि दूसरे बालकों को अज्ञान वश

इसकी कोई सूचना न थी। जब उनकी पिटम्मस होती तब उनको पता चलता कि कुमार हमसे इतर जाति का प्राणी है। उसके पहले बेचारे जब कुमार को गुल्ली-डंडा या गोली या छुआ-छुऔवल में उसका दाँव देते तो यह भी उम्मीद करते कि उनका दाँव आने पर कुमार भी उन को दाँव देगा। तभी कुमार भों-भों करके रोने लगता। उसका भैरव-नाद सुन कर उसके अंग-रक्षक दौड़े आते और तब फिर जो स्थिति उत्पन्न होती उसमें चक्रवर्ती की ही विजय होती, जैसा कि आदि काल से होता आया है।

धीरे-धीरे अन्य बालकों ने चक्रवर्ती कुमार के संग खेलना छोड़ दिया और तब कुमार का अधिक समय घर के भीतर, अपने माता-पिता और वृद्धा बुआ और नौकर-चाकरों के संग ही बीतने लगा, जो सब उसके चक्रवर्तित्व से पूर्णतया अभिभूत थे। शरीर को मेहनत न मिलने से कुमार इस तरह फूलने लगा कि जैसे कोई पम्प लेकर फुटबाल में हवा भर रहा हो। उसके शरीर की यह दिन-दूनी रात चौगुनी वृद्धि देखकर ठाकुर संकटासिंह को एक बार थोड़ा भय मालूम हुआ मगर फिर जब उन्हें याद आया कि उनके वंश में कैसे-कैसे महाकाय लोग हो चुके हैं, तो उनका मन आश्वस्त हो गया।

शास्त्रों में लिखा है कि राजकुल के बालक को सार्वजनिक पाठ-शाला में नहीं जाना चाहिए। अतः चक्रवर्ती कुमार को घर पर ही पढ़ाने की व्यवस्था की गई। एक पंडित जी आने लगे। उन्होंने कई तरह से बालक को हिलाने-डुलाने की कोशिश की लेकिन उन्हें विशेष सफलता न मिली। कुछ तो इसलिए कि शरीर के साथ कुमार की बुद्धि भी थोड़ी मोटी हो गई थी और कुछ इसलिए कि राजकोप के भय से पंडितजी बालक पर डंडे का प्रयोग न कर पाते थे और शिक्षादान की दूसरी कोई विधि उन्हें न आती थी।

कई वर्ष बीत गए। संसार में अनेक परिवर्तन घटित हुए। बहुत-से राजसिंहासन भूलुंठित हुए। ठाकुर संकटासिंह की भी जमींदारी छिन गई। उसी शोक में उनका प्राणान्त हो गया। उनकी धर्म-पत्नी ने भी पति वियोग में पन्द्रह दिन के भीतर ही परलोक-गमन किया।

जहाँ सभी कुछ काल प्रवाह में बह गया वहाँ लोग यह भी भूल गए कि कभी किसी ज्योतिषी ने किसी के चक्रवर्ती बनने की भविष्य-वाणी की थी।

लेकिन जब पहली ही बार में चक्रवर्तीसिंह नायब तहसीलदारी में आ गए तब लोगों की समझ में आया कि ज्योतिषीजी ने यों ही नहीं कहा था।

—आस्तीन में मुंह छिपा-छिपाकर मुसकराइए मत, कहिए न, नायब तहसीलदार से बड़ा चक्रवर्ती कौन है? जो चाहे स्याह-सफेद करें। कोई उनका हाथ नहीं पकड़ सकता। खाते में जिसकी जमीन पर चाहे जिसका नाम चढ़ा दें, कोई चूं नहीं कर सकता। अभी मुश्कें बँधवा कर पिटवाने लगें तो आटे-दाल का भाव मालूम हो जाय। नहर से पानी लेते हो, आज चाहें तुम्हारा पानी बन्द करवा दें। चक्रवर्ती और किसे कहते हैं। चक्रवर्ती के कोई सींग-पूंछ थोड़े ही होती है। और फिर यह तो पहली सीढ़ी है। कोई एक छलांग में चोटी पर नहीं पहुँच जाता। तरक्की करते-करते जब हाकिम परगना बनेंगे तब देखना उनकी शान—

ज्योतिषीजी की बात फिर ठीक निकली। तरक्की करते-करते ठाकुर साहब जब हाकिम परगना बने तब उनकी शान का क्या पूछना।

अब वह शहर में रहते हैं, शहरियों की तरह रहते हैं, पैजामा और अचकन की जगह कोट-पतलून पहनते हैं, जीप में चढ़ कर घूमते हैं, घर को सजा-बजा कर रखते हैं, ड्राइंग रूम में गुलदान में कागज के फूल लगाते हैं, जो कभी नहीं कुम्हलाते और जिनसे सदा ओटो दिल-बहार की खुशबू आती रहती है, तखत पर बाघम्बर बिछा कर रखते

हैं, खास तौर से गहरी पीली पुतवाई हुई दीवार पर हनुमान जी और शंकर जी की तस्वीर कैलेन्डर से काट कर फ्रेम करवा के रखते हैं, लड़के को अंग्रेजी स्कूल में पढ़ने के लिए भेजते हैं, नियमित रूप से हनुमान चालीसा का पाठ करते हैं, नजराने में मिली हुई गैया की सेवा भक्ति-भाव से करते हैं और दोनों वक्त खुद खड़े होकर दूध दुहवाते हैं, ताकि बछड़े के लिए दो-चार बूंद भी थन में छूट न जाय, जिसको पीकर बछड़े को खामखा अजीरन हो जाय—कहने का मतलब कि अब उनकी शान कुछ और है। दबदबा इतना है कि कोई कुछ नहीं बोल सकता।

उनकी गाय रोज ही पड़ोसियों का बगीचा चर जाती है, मगर कोई उसका कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि वह हाकिम की गाय है और उसे फूल-पत्ती से प्रेम है। किसी ऐसे-वैसे की गाय है कि उसे खूँटे से बाँध कर रखा जाय? वह तो हाकिम परगना की गाय है और छुट्टा चरेगी!

हाकिम साहब अपने घर की गन्दगी पड़ोसियों के घर के सामने फिकवाते हैं। कोई उनका हाथ नहीं पकड़ सकता कि भाई ऐसा क्यों करते हो। हमारी मरजी। हमको यही अच्छा लगता है।

हाकिम का कुत्ता पड़ोसियों के घर में घुस कर गन्दगी कर आता है। उन्होंने उसको यही ट्रेनिंग दी है कि अपने घर में गन्दगी न करो। तो वह दूसरों के घर में करता है और अपनी श्वान-बुद्धि से उसने पड़ोसियों की पारी भी बांध रखी है। किसी को यह बात बुरी भी लग सकती है पर रक्षा का कोई उपाय नहीं है, क्योंकि वह हाकिम का कुत्ता है। इधर तीन महीने से पड़ोसियों में मिस्कौट हो रही है कि इस हरामजादे की (यानी कुत्ते की) टांग तोड़ देनी चाहिए पर अभी उस वज्र की रचना नहीं हो पाई है, जिससे यह महत् कार्य सम्पादित किया जाएगा।

पुनश्च—

इसको एक अच्छा क्लाइमैक्स समझ कर मैंने कहानी को यहीं खत्म कर दिया था और सच पूछिए तो कहानी यहीं खत्म भी हो गई। मगर शाम को एक नई घटना हो गई जिसका इस कहानी से कुछ सम्बन्ध है, कुछ क्या काफी सम्बन्ध है।

हुआ क्या कि कल शाम को चक्रवर्तीसिंह, हाकिम परगना दलेलपुर, पुलिस एम्बुलैंस में लादकर घर ले आए गए—बेहोश, लहू-लुहान, चेहरा एकदम सूजा हुआ।

मैं यकायक समझा नहीं किस जालिम ने आज गरीब की यह गत बना दी। बिलकुल अधमरा करके छोड़ा।

मन में कुतूहल भी हुआ। लिहाजा मैंने मौके पर जाकर पता लगाया तो यह मालूम हुआ कि एक लहीम-शहीम रिक्शेवाले ने उन का यह सत्कार किया था। फिर और पता लगाया तो मालूम हुआ कि दलेलपुर के हाकिम परगना चक्रवर्तीसिंह ने अपना जीवन-सिद्धान्त बना रखा था कि वह शहर में कहीं जाएँ, रिक्शेवाले को बस दुअन्नी पकड़ाते थे। न्याय करना उनका पेशा था। रोज ही उनके इजलास में कितने ही मुकदमे आते थे। जरूर उनकी किसी मोटी, भारी-भरकम, न्याय की पुस्तक में उनके इस सिद्धान्त की पुष्टि मिलती होगी। लेकिन एक तो रिक्शेवाले पढ़े-लिखे नहीं होते, दूसरे यह भी कोई जरूरी नहीं है कि जो आदमी अपनी ढाई मन की लाश ले कर रिक्शे पर लदा हुआ है और जो आदमी उस लाश को खींच रहा है उन दोनों का मत इस प्रश्न पर एक हो। लिहाजा एक रोज जब आठ मील का चक्कर लगा कर दलेलपुर के हाकिम परगना चक्रवर्तीसिंह ने इस रिक्शे-वाले को पैसा मील के रेट से दुअन्नी पकड़ानी चाही तो उसने लेने से इन्कार किया और कुछ कच्ची-पक्की बातें कहने लगा जो कि उसको

न कहनी चाहिए थीं। लिहाजा चक्रवर्तीसिंह को गुस्सा आ गया और उन्होंने उसको तीन दिन के लिए हाजत में बन्द करवा दिया।

उसी रिक्शेवाले ने, सुनते हैं, आज मौका पा कर सिर्फ आठ-दस आने पैसे के पीछे, जो वह एक-न-एक सड़ियल बाइसकोप में जाकर फूँक आता, इस गरीब को आज इस बेतरह मारा कि लगता है बेचारे को पन्द्रहियों हल्दी-गुड़ पीना पड़ेगा। गनीमत यही है कि उनकी बीबी थोड़ी-सी दालचीनी और चार छः दाने गोल मिर्च डाल कर हल्दी-गुड़ का काढ़ा बहुत स्वादिष्ट बनाना जानती हैं।

यम का छाता

(एक आवाज़ सुनाई पड़ती है)

यह मौत की घाटी है जहाँ अब कुछ भी ज़िन्दा नहीं—न आदमी, न जानवर, न पेड़, न पत्ते, न फूल, न आँखों के चिराग़, न उम्मीदें, न मुहब्बत....

यह मौत की घाटी है जहाँ ज़मीन से मौत की फ़सल उगती है, नीले आसमान से मौत की धूल बरसती है, साफ़-शफ़्फ़ाफ़ पानी की लहरों पर मौत का पहरा है, मुक्त दिशाओं पर मौत का पहरा है, झुलसी हुई हवाएँ मौत की कहानी कहती हैं, मेघ यम के दूत हैं—

यह मौत की घाटी है जहाँ हर वक्त मौत की बिजलियाँ हवा में कांप रही हैं, जहाँ हर चीज़ इतनी मुकम्मिल तौर पर मर चुकी है कि अब मौत ही ज़िन्दगी और ज़िन्दगी मौत है।

मिट गयी वह पिछली दुनिया, मौत की नींद सो रहा है अब वह इतिहास, खाक-ओ-ख़ून में लिथड़े हुए नये वरक़ अब खुलते हैं जिन पर कुछ भी नहीं....कुछ भी नहीं........

(प्रलय-बम का प्रवेश—क्रूर आकृति, जल्लाद के कपड़े। टोपी पर मौत का निशान, मुर्दे की एक सूखी खोपड़ी और दो सूखी हड्डियां, एक

पर एक रखी हुई, सलीब के आकार में। सीने और पेट पर एक विशाल, हिंस्र गिद्ध। पीठ पर डालर का विराट् निशान।)

........सिवाय मेरे दस्तखत के, मैं जो कि प्रलय हूँ, यम हूँ, मौत की एक ऐसी रन्ध्रहीन चट्टान जिस में ज़िन्दगी की एक दूब भी नहीं उग सकती—हुम् म् म् म् म्....

मैं कौन हूँ ? नहीं जानते ?

यह फूटता हुआ ज्वालामुखी........पचीसों मील के व्यास में फैला हुआ यह विराट् अग्निकुण्ड, विज्ञान का यह नया सूरज जो फटता है तो आसमान का वह पुराना सूरज भी एक बार मंद पड़ जाता है.... ज़मीन की कोख से उठता हुआ धुआँ, धुएँ का यह महामेघ, पहाड़, जिसकी ऊँचाई इतनी कि एक एवरेस्ट दूसरे के कंधे पर खड़ा होकर उसे छू सके....यह सैकड़ों मील दूर से दीख पड़नेवाली मेरी आग, यह हजारों मील दूर तक, दुनिया के एक-एक कोने को चाट सकने वाली मेरी अदृश्य अग्नि-जिह्वाएँ, यह मेरा दस मील ऊँचा, सौ मील लम्बा यम का सुन्दर छाता....अब भी तुमने मुझको नहीं पहचाना ?

मैं कलियुग का परब्रह्म हूँ। मेरे कोप से त्रिलोक में कहीं अभय नहीं। मैं प्रलय की पूर्वपीठिका हूँ, प्रलय हूँ। यह देखो मेरी खेती—

(मुर्दों में कुनमुनाहट होती है। सब एक एक करके खड़े होते हैं। मरे हुओं और मरते हुओं का गीत—)

हम मर चुके हैं। हम मर रहे हैं। मगर यह किस गुनाह की सज़ा है भगवान्। हमने तो किसी का गला नहीं रेता, किसी का घर नहीं उजाड़ा, किसी को भूखों नहीं मारा, किसी के प्रेम के तरानों को छुरी नहीं भोंकी। तब फिर हमें यह किस गुनाह की सज़ा मिली भगवान्।

हम मर चुके हैं। हम मर रहे हैं। मगर हम तो वह हैं जिन्हें अच्छी मौत भी नसीब नहीं, मौत वह समुन्दर की तेज़-ओ-तुन्द लहरों की तरह, मरना वह एक बार का, दर्द की एक छुरी, काम खत्म....यह

नहीं, यह नहीं, यह नहीं, यह मौत जो मौत नहीं, यह ज़िन्दगी जो ज़िन्दगी नहीं....जिस्म में यह आग-सी लगी हुई, यह ऐंठन, ये अजीब उभरे-उभरे कोढ़ के चिन्ह, यह ज़र्द खाल स्याह पड़ती हुई, यह खून....पानी, पानी....यह किस गुनाह की सज़ा है भगवान्।

हम मर चुके हैं। हम मर रहे हैं।

मगर क्यों? क्यों? हम तो कारखानों में काम करते थे, खेत में काम करते थे, दफ्तर में काम करते थे, कुम्हार थे, बढ़ई थे, लुहार थे, माली थे, कलाकार थे, सत्य का बीज बोकर सौंदर्य की कोंपल उगाते थे, मल्लाह थे, मछुवे थे, हमें तो अपने बाल-बच्चों में रहना, अपनी मेहनत की दो रोटी खाना पसन्द था, हमारी तो किसी से अदावत न थी—तब फिर हम पर यह मौत क्यों टूटी, यह दस मौतों के बराबर एक मौत....क्यों क्यों क्यों? ? ? बोलो न मेरे ज़ालिम फफोलो?

(फफोले बोलते हैं)

एक—मैं ईसा मसीह की नयी शक्ल हूँ...करुणा के स्रोत ईसा मसीह!

दो—मैं पाषाण युग की वह वन्य रात हूँ जो आज फिर जाग उठी है, जब आदमी भी एक दरिन्दा था, गोरीला, हिंस्र, वन्य।

तीन—मैं ज्ञान की, विज्ञान की, कला की, संस्कृति की, धर्म की, सभ्यता की नयी परिभाषा हूँ, नित नयी, सुविधाजनक...

चार—मैं हीरोशीमा हूँ, नागासाकी हूँ...

पांच—मैं वह नामालूम गुनाह हूँ, जिसकी सज़ा हमेशा एशिया के सिर पर गिरती है...

छः—मैं वह शीशा हूँ जिसमें इन्सान अपने आगे वाले दिनों को पढ़ सकता है।

सात—मैं वह पुराना मनहूस कठघरा हूँ जिसमें इन्सान ने पहली

बार गुलामी की किड़ैली रोटी तोड़ी थी। मैं गवाह हूँ कि वह कठघरा अभी है।

आठ—मैं नफ़रत का वह ज़हरबाद हूँ जिसे मज़बूत हाथों से नश्तर लगाना होगा वरना...

(सब फफोले नाच नाच कर गाने लगते हैं, अपनी-अपनी बेसुरी, करख़्त आवाज़ में)

फिर आदमी न होगा
फिर आदमी न होगा
बस हमीं हम होंगे
बस हमीं हम होंगे
मौत होगी बबाएँ होंगी
खून होगा, अँधेरा होगा
खाक होगी
दुनिया रेगिस्तान होगी

और उसके बीच एक आदमी, बस एक, काला कोयला, जला हुआ ठूंठ....निशानी के लिए....

एक मुर्दा —धोखे में मत आओ। वह इत्तफाक की बात है कि हम जिन्हें इस प्रलयबम की पहली आंच लगी, जापानी मछुए थे....

दूसरा मुर्दा—हमारी जगह तुम भी हो सकते थे, कोई भी हो सकता था, बर्मी, सिंहली, मलय, चीनी—हवा एक है, पानी एक है, आकाश एक है। प्रलय की यह बाढ़ किसी को नहीं छोड़ेगी।

तीसरा मुर्दा—और यह तो हमारा छोटा-सा सौभाग्य है कि हर नये बम की पहली आँच हमीं को लगती है—शायद इसीलिए कि हम सूर्यवंशी हैं!

चौथा मुर्दा—(बुझते हुए चिराग की तरह भभककर) मगर जो सच पूछो तो यह चेहरा किसी ख़ास कौम के आदमी का चेहरा नहीं, हर

इन्सान का चेहरा है, इन्सानियत का चेहरा है—हाँ यही चेहरा, जिसकी जिल्द की सात तहें तक जल चुकी हैं, जिसका खून पानी हो गया है और गोश्त भुसभुसी मिट्टी....

(आगे बढ़कर)

हाँ, ध्वंस की मुहर लिये यही डरा हुआ, डरावना चेहरा जिससे सब डरते हैं क्योंकि मौत वह बबा है जिसके हजार पैर होते हैं।....उफ़, कितना जलता है ! जैसे किसी ने आग सुलगा दी हो....

(गिर कर ढेर हो जाता है।)

(कवि का प्रवेश)

कवि—घबराओ मत, यह दारुण आग नये सृजन की है। इसी आग से तपकर निकलना है इस धरा को। संहार और सृष्टि एक ही क्रिया के दो रूप हैं। जिस विज्ञान ने संहार का यह अस्त्र दिया है उसी ने नयी सृष्टि की प्रतिश्रुति भी उसके अन्दर रख दी है। घबराओ मत।

मैंने स्वर्ग नहीं देखा है मगर मैं सोचता हूँ कि स्वर्ग के उस नन्हें-से दरवाज़े पर ज़रूर एक बहुत बड़ी खंदक होगी, गहरी, डरावनी। यह प्रलय बम भी वही मौत की खंदक है, ठीक उस स्वर्ग के द्वार पर जो इसी धरती पर बनने जा रहा है।

आदम के बेटे के पास आज वह ताक़त है कि वह इसी ज़मीन पर स्वर्ग रच सकता है, उसे नहीं चाहिए वह पुराना स्वर्ग। मधु-मास ने आकर मेरे कान में कहा है कि अब यहीं नन्दनकानन बनेगा। मानव-शक्ति की इस नयी देवी को प्रणाम। तुझको जिन्होंने बन्दी बनाया है उन राक्षसों के रक्त से मैं तेरा तर्पण करूँगा और तुझे वरूँगा।....

वैज्ञानिक बतलाते है कि अग्निपिंड से ही धरा का जन्म हुआ है। इस बार भी वही होगा। इस आग के गोले से एक नयी धरा का जन्म होगा।

और मैं इस महायज्ञ का ऋत्विक् हूँ, इस नये प्रभात का वैता-लिक....

ओ मेरे आँधी और तूफान और काली घटाओं के अलबेले प्रभात, भले तेरा सूरज अभी आँख से ओझल हो गया हो, लेकिन मैं जानता हूँ कि वह है। इसीलिए तुझसे कहता हूँ कोकिल कि तू गा, छेड़ अपना प्रभात का राग।....और तुझसे कहता हूँ माँ कि तू भी शोक न कर....

(मां उदास बैठी, उदरस्थ शिशु से कह रही है :)

तुझे देखने को मेरी आँखें तरस रही हैं लाल, कब गिरेगा तू धरती पर। किन पर जायगा तू, मुझ पर कि उन पर....

आह पता नहीं कहाँ होंगे वह ? तुझे देखकर वह भी कितने खुश होते। कितनी उमंग न उठती होगी उनके भी मन में—लेकिन........ सब होंगे तेरे जन्म पर, बस एक वही न होंगे........ओफ़, हवा में कितना नशा था उस रात ! कैसी चन्दन जैसी चांदनी छिटकी हुई थी, ठंडी, ठंडी, उजली-उजली........और वह दूधिया बिस्तर, वह बाँस के झुरमुट के पीछे से खिड़की में से झाँकता हुआ बेशरम चाँद। वह नशे की गगरियाँ लुढ़की हुईं, वह लाज के बंधन टूटे हुए, वह आधी रात का सन्नाटा और उस सन्नाटे में साँसों के तार बजते हुए, मोतिये और बेले के वह गजरे—और ऐसे में बस वह और मैं और हमारे बीच हमारी तरसी हुई ज़िन्दगी की वह एक भरपूर जवान रात, गोया अंगूर जिसे जितना ही निचोड़ोगे उतना ही रस वह देगा।........और हमने भी उस एक मदभरी रात को गारकर उसका सारा रस चूस लिया और फिर, फिर निगोड़ी सुबह हो गयी और वह लाम पर चले गये और तू मेरे पास आ गया....यहाँ....यहाँ....अरे कैसा मछली की तरह तड़पता है तू, ज़रा चैन नहीं तुझे। तेरे तड़पने से तो लगता है कि तू लड़की होगा, सहेलियाँ कहती हैं कि लड़की ज्यादा चंचल होती है....पर मैं

जानती हूँ कि है तू लड़का ही, मर्द बच्चा, क्योंकि उनकी यही इच्छा थी। पता नहीं कितनी बार उन्होंने कहा होगा—देखना, बेटा हो! मेरा बेटा भी बड़ा होकर सिपाही बनेगा, बर्मा, ईराक, ईरान, मैसोपोटामिया, मिस्र, इटली, फ्रांस, इंग्लैंड, देस-देस का पानी पीयेगा। चूल्हे में जायें ये देस और ये निपूती लड़ाइयाँ जो माँ से बेटे को छीन लेती हैं........तू भी कितना निर्दयी है भगवान्, कि जिस बेटे पर माँ जान छिड़कती है उसी को तू सात समुन्दर पार न जाने किस बिराने देस में ले जाकर पटक देता है! बच्चा पालने में पड़ा किहाँ-किहाँ करता है, मां देखती है। फिर उसकी दंतुलियाँ आ जाती हैं, माँ देखती है। फिर वह घुटनियों चलने लगता है, माँ देखती है। फिर वह खड़ा होकर अपनी लटपट चाल में डगमग-डगमग चलने लगता है, माँ देखती है। फिर वह लड़कों के खेल खेलने लगता है, नदी में तैरता है, पेड़ पर चढ़ता है, लड़ता है, भिड़ता है, और इसी तरह खेलते-खेलते बड़ा हो जाता है और फिर पता नहीं कहाँ चला जाता है—और फिर माँ कुछ नहीं देखती। फिर बस वह चिट्ठी की राह देखती है और उसके प्राण सूली पर टँगे होते हैं।........सच बता यह लाम भी क्या कोई खूनी दलदल है जिसमें पुश्त दर पुश्त लोग फँसते चले जाते हैं—पहले बाप, फिर बेटा, फिर बेटे का बेटा, फिर उसका बेटा, फिर उसका........कब टूटेगी यह कड़ी? कैसा नसीब है हमारा? हम तो दिन-रात जागकर पहरा दें........मुनुआँ का शरीर गर्म तो नहीं है, ठण्डा तो नहीं है, छींक क्यों आयी, पसली कैसे चलने लगी........मगर क्या हासिल? एक रोज कोई आया और भर्ती करके ले गया........और फिर वही गंडा-तावीज, मन्नत-मनौती, देवी-देवता, अल्ला-रसूल........अभागिन माँ इन्तज़ार करती रहती है कि एक न एक दिन रामजी की नज़र उस बेकस पर भी पड़ेगी और उसका बेटा उसे मिल जायगा........लेकिन....लेकिन....लेकिन....कितनी बार देखा है मैंने........बेटा नहीं मिलता, चिट्ठी मिलती है—फौज

की.......उफ़! ऐसी कोख में आग क्यों नहीं लग जाती!.......अरे, यह मैं कह रही हूँ....कट कर गिर क्यों नहीं पड़ी मेरी जीभ.... अपने ही बेटे का अनहित चेत रही हूँ, मुझे हो क्या गया है? मेरा होश ठिकाने नहीं है भगवान, मुझे माफ कर दो। पर तू देख मेरे आँसुओं को, कितना जल रहे हैं ये, और बता मैं क्या अकेली माँ हूँ जो इस तरह आँसू गिराती है? तो फिर लड़ाई रुक क्यों नहीं जाती? सब लोग सुख से रहें तो इसमें कोई बुराई है? मैं तो किसी से हीरा-मोती नहीं माँगती। मेरी तो उनसे हाथ जोड़कर बस इतनी अरदास है कि मेरा आदमी मुझे दे दो, मेरा बेटा मुझ से मत छीनो....हम लोग अपनी नमक-रोटी में भी खुश रह लेंगे, बस हमें संग रहने दो, अलग न करो एक दूसरे से। वह भी नहीं? तो फिर जीकर ही क्या होगा? लगा दो आग, सब कुछ भसम हो जाय....किशन की माँ कहती थी, अब यही होने वाला है। सब कुछ स्वाहा हो जायेगा....सब कुछ, सब कुछ। एक बम, बस एक बम, दूसरा नहीं....

हाँ, बेटा, यही वह बदजात दुनिया है जो तुझे निगलने को तैयार खड़ी है! मैं क्या करूँ कि इस पिशाचिन की छाया भी तुझ पर न पड़े....लेकिन मैं तरस भी तो रही हूँ तेरा मुखड़ा देखने को! कैसे करूँ!....कुछ नहीं बेटा, कुछ नहीं करना है। तू आ, मैं तेरा स्वागत करूँगी, मूसलों ढोल बजाऊँगी, फिर मरने की घड़ी आयेगी तो सब एक साथ मर भी जायेंगे, क्या रक्खा है! रोज-रोज, दिन में सौ बार मरने से अच्छा होगा सबका एक बार साफ़ हो जाना। मौत की किश्ती में जब सब एक साथ सवार होंगे तो मैं तो सोचती हूँ उसमें भी एक मज़ा होगा, प्राण हर दम गले में तो न अटके रहा करेंगे....

आ-आ तू भी आ अपने उस गीले अंधेरे से, अब और तड़फड़ा मत मछली की तरह—और खड़ा हो जा हमारे इस मौत के जुलूस में, हम बहुत धूम-धड़ाके के साथ जा रहे हैं प्रलय की ओर, दिन के

निर्धूम आलोक से वापस उस अँधेरे की ओर जिसमें जीवन भी नहीं, जीवन की स्मृति भी नहीं।

(एक सैनिक जिसकी एक टांग कटी हुई है, लंगड़ाता हुआ, बैसाखी टेकता आता है।)

निराश न हो मां, किसी में इतनी ताकत नहीं कि जीवन की उस नन्हीं-सी हरी हरी टुनगी को छू सके जो तेरे अन्दर फूल रही है, जो तुझे प्राणों से भी प्यारी है, जिसे तू अपनी एक्सरे आंखों से, बीच के सारे पर्दे को चीरकर, थोड़ी-थोड़ी देर बाद सहला लेती है, जिसका रूप हर दम तेरी आंख में समाया रहता है, जिसकी बोली का संगीत हर दम तेरे कान में बजता रहता है, जो तेरा है और तू जिसकी है, तेरा बच्चा, तेरा लाल। कोई उसे छू नहीं सकेगा, मां तू डर मत!

इन्सान बहुत भटका झूठ की गलियों में, बलि के न जाने कितने मूक-बधिर पत्थरों पर उसका खून बहा, न जाने कितने मरुस्थल उसके खून से भीग-भीग उठे, न जाने कितने कूटनीतिज्ञों ने उसके बुझे हुए खून की नदी में अपनी किश्तियाँ दौड़ायीं....बहुत हुआ बहुत हुआ.... अब और नहीं अब और नहीं अब और नहीं....इन्सान अब अपने लिए लड़ेगा, अपने लिए खून बहायेगा, अगर मरना ही है तो अपने जीवन की शांति को बचाने के लिए मरेगा, चालबाज़ राजनीतिज्ञों के लिए अब वह एक बूंद खून नहीं गिरायेगा....

मैंने अपनी यह टांग गंवायी, किस लिए? मुझे क्या मिला? जब भी लड़ाई छिड़ती है, बड़े-बड़े आदर्शों के ढोल पीटे जाते हैं, न्याय के, धर्म के, सभ्यता के, इसके, उसके, मगर सब झूठ सब झूठ सब झूठ....मैं जानता हूँ। दस-पाँच करोड़ में एक चालाक और ताक़तवर आदमी अपना उल्लू सीधा करने के लिए बेगुनाह इन्सानों को आपस में लड़वाता है। जान किसी की जाती है, हवेली किसी की खड़ी होती है। मैं जानता हूँ, न्याय, धर्म, सभ्यता की बात

करे वह जिसका न्याय, धर्म, सभ्यता, सब कुछ पैसा है ! (ज़हर में डूबी हुई तीखी हँसी) बहुत बार बैठा हूँ मैं, उनके इस हिंडोले पर, अब उनके नाम से ही मुझे मितली मालूम होती है।

तू ज़रा भी मत डर मां, अब हम सब मिलकर अपनी हिफाजत के लिए लड़ेंगे। मानव जाति क्या इस प्रलय बम के एक विस्फोट से अपने को मिट जाने देगी ? ज़िन्दगी इतनी सस्ती है क्या ? इन्सानियत भी क्या कोई मजबूर और बेकस गाय है कि दो-चार कसाई आकर उसके पहलू में अपना खंजर भोंक दें और वह कान-पूँछ भी न हिलाये ? लद गये, वह दिन लद गये। देखा है, कभी गाय को अपने नन्हें बछड़े की हिफाजत में खड़े देखा है ? पूँछ खड़ी हुई, आंखों से चिनगारियाँ सी छूटती हुई, सींग पैनाये हुए, हमलावर का जवाब देने के लिए एक दम तैयार....किसी भी शिकारी से पूछ लो, ऐसे में शेर भी उस पर हमला करने में एक बार डरता है और अगर कभी ये बिफरी हुई गायें अपना गोल बनाकर फौज की तरह आगे बढ़ती हैं तो जंगल के राजा को भी खदेड़ कर जंगल से बाहर कर देती हैं। किसी अच्छे शिकारी से पूछो, वह बतायेगा कि ऐसा होता है।....और फिर तू भी तो मां है, तुझे भी तो अपना बछड़ा प्यारा है, तुझे क्या यह टेसुए बहाना सुहाता है ? स्वर्ग से देस निकाला पाये हुए बाग़ी आदम की बेटी होकर तू क्या उन गायों से भी गयी-गुजरी है ? नहीं, मैं ऐसा कभी न मानूँगा। मैं जानता हूँ, तेरे अन्दर कितनी ताक़त छिपी है, हमारे सब के अन्दर कितनी ताक़त छिपी है। हाथी जब अपने बचाव की युक्ति नहीं करता तो एक नन्हीं-सी चींटी भी उसे मार देती है और बिल्ली तक जब अपने प्राणों का मोह छोड़कर अपनी प्राण रक्षा करने पर आ जाती है तो अच्छे-अच्छे हौसले वालों का हौसला छूट जाता है।

बहुत सफ़र किया आदम के बेटे ने मौत की अंधेरी घाटियों में, इस ध्रुव से उस ध्रुव तक, उस अंधेरे युग से इस नये अंधेरे युग तक, जो

अंधेरा इसलिए है कि अपनी ही रोशनी से उसकी आंखें फूट गयी हैं। मगर अब और नहीं। चीखो, चीखो, मौत की आंधी से घिरे हुए मेरे दोस्तो, साथियो, इन्सानों, चीखो, अपनी आवाज़ उठाओ, आसमानों में गुँजाओ, अगर अब नहीं तो फिर कभी नहीं, यही वह आखिरी क्षण है, प्रलय का क्षण....

मैं लड़ूँगा। मैं जानता हूँ इस दुश्मन को। हम जानते हैं इस दुश्मन को। यह मौत का सौदागर है। यह अजीब वेलबूटेदार भद्दे कपड़े पहने फूहड़ जानवर आदमियों को खरीदता है, मुल्कों को खरी-दता है, ईमानों को खरीदता है, अस्मतों को खरीदता है, बाजुओं को खरीदता है, ज़मीरों को खरीदता है। यह मौत का सौदागर है, मौत का दलाल। मैं इससे लड़ूँगा। इसी ने मुझे लंगड़ा किया है। इसी के हत्यारे बम ने मेरे बेटे का खून किया है। इसी ने मेरी बीवी के संग ज़िना किया है। इसी ने मेरी बहन को वहां कोठे पर बिठाला है। इसके पंजे हर घर पर पहुँच रहे हैं, कोई इससे बाहर नहीं, कोई बच्चा नहीं, कोई बहू-बेटी नहीं। मैं लड़ूँगा, मैं इसे खूब पहचानता हूँ। यह आदमी नहीं, आदमी की शक्ल में देव है, एक मुजस्सिम हविस, एक कभी न मिटने वाली शैतान भूख—सोने के पहाड़ों की, सल्तनत की, ताकत की—

मैं जानता हूँ इस केकड़े को। आज इसी की गिजबिजी टाँगें दुनिया के कोने-कोने में पहुँच रही हैं। अपने पुरखों की वह वजनी, आदिम, हिम्मतवर, इन्साफपसन्द तलवार उठाओ, खाँडा उठाओ, उसकी ज़ंग दूर करके उसे सान दो और खड़े हो जाओ, इस संकल्प को अपनी मुट्ठी में लेकर कि अपनी धरती पर रेंगती हुई इस गिजबिजी टाँग को वहीं काटकर दफन कर देंगे!

तू शोक मत कर माँ, मनुष्य जियेगा, तेरी कोख का वह सलोना बालक जियेगा।